गगनाञ्चल

वर्ष 19 अंक 3 जुलाई-सितंबर 1996

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

प्रकाशक
मीरा शंकर
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली

संपादक
कन्हैयालाल नन्दन

सहयोगी संपादक
अजय कुमार गुप्ता, प्रेम जनमेजय (मानसेवी)

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है जो हिंदी (*गगनाञ्चल*), अंग्रेजी (*इंडियन-होराइजन्स, अफ्रीका क्वार्टरली*), अरबी (*सक़ाफ़त-उल-हिंद*), स्पेनिश (*पपलेस-दे-ला-इंडिया*), फ्रेंच (*रेकौंत्र अवेकलैंद*) और जर्मन (*इंडियन इन डेर जेजनवार्ट*) भाषाओं में हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाञ्चल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्,
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट, नयी दिल्ली-110002

शुल्क दरें

एक अंक	*वार्षिक*	*त्रैवार्षिक*
रु. 25.00	रु. 100.00	रु. 250.00
US$ 10.00	US$ 40.00	US$ 100.00
£ 4.00	£ 16.00	£ 40.00

ISSN 0971-1430

आवरण : जितेंद्र कुमार

मुद्रक : विमल ऑफसेट, 1/11804, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

प्रकाशक की ओर से

दृश्य माध्यमों के निरंतर क्षिप्र गति से विस्तार को एक बहुत बड़े खतरे के रूप में देखा जा रहा है। दूरदर्शन के बढ़ते चैनल सक्षम चिंतनशील तथा संस्कृतिप्रेमी बौद्धिक के लिए एक चुनौती बन गए हैं। वह निरंतर इस चुनौती से वैचारिक संघर्ष कर रहा है तथा अपनी चिंता को भारतीय जनता के सामने अभिव्यक्त भी कर रहा है। माध्यम कोई भी बुरा नहीं होता है, गलत या सही होती है उसकी विषयवस्तु। आज दूरदर्शन पर छाये विभिन्न चैनलों ने बच्चों से उनका खेलकूद, परिवार से उसकी आत्मीय बातचीत, समाज से उसका लगाव जैसे छीन लिया है। अति हर चीज़ की बुरी होती है और दूरदर्शन का आकर्षण पूरे परिवार को एक अति की ओर ही ले जाता है जिसके कारण दूरदर्शन देखना एक लत बन जाता है। इस लत ने भारतीय जन-मानस में पढ़ने की रुचि को कम किया है। स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक चेतना की पत्र-पत्रिकाएं एक तो वैसे ही कम हैं, दूसरे इनके प्रति बढ़ती उपेक्षा एक चुनौती उपस्थित करती है। इस चुनौती को गगनाञ्चल ने स्वीकारा है। दूरदर्शन की लत छोड़ने के इच्छुक सक्षम नागरिक के लिए गगनाञ्चल एक सार्थक विकल्प के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसके निरंतर बढ़ते पाठक वर्ग ने दृश्य माध्यमों की चुनौती को स्वीकार करने के लिए हमारा साहस बढ़ाया है। गगनाञ्चल को पढ़ने के बाद आपकी प्रतिक्रियाएं सिद्ध करती हैं कि गंभीर पाठकों की कमी नहीं है। आवश्यक है उन तक पहुंचने की चुनौती को स्वीकार करना।

मेरा पूरा विश्वास है कि यदि हम व्यावसायिक समझौतों में अपनी संपूर्ण क्षमता न खर्च कर दें तो हम पुनः अच्छी पत्रिकाओं का दौर हिंदी में आरंभ कर सकते हैं। अन्य भाषाओं में—विशेषकर बांग्ला और मलयालम, में पढ़ने की रुचि का निरंतर विस्तार हो रहा है। एक ऐसा ही संस्कार हिंदी-भाषियों को देने की

आवश्यकता है। हमें केवल पाठकों को दोष देकर नहीं रह जाना है अपितु हमें अपने गिरेबान में झांककर भी देखना होगा कि हम उनके सामने क्या परोस रहे हैं। यदि हम अपने दायित्व के प्रति सक्षम होंगे तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि हम दृश्य माध्यमों की चुनौती का मुकाबला पूरी तरह कर सकेंगे।

मीरा शंकर

(मीरा शंकर)
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नई दिल्ली

संपादक की ओर से

कविता और आदमी का एक गहरा रिश्ता है। जब-जब आदमी ने अकेलापन महसूस किया है, कविता ने उस शून्य को भरा है। यही कारण है कि हम अनेक बार अनायास ही कविता की पंक्तियों को गुनगुना उठते हैं, या जहां-तहां गद्य में अपनी बात कहते हुए उसे और सशक्त करने के लिए कविता की पंक्तियां उद्धृत कर जाते हैं। कविता कहीं हमारे संवेदन को बहुत अंदर तक छूती है। आज भी सूर, तुलसी, कबीर आदि साहित्यिक व्यक्तित्व हमारे जीवन में इसलिए विद्यमान् हैं कि उनके छंदमय लययुक्त शब्द हमारे संवेदन को गहरे प्रभावित किए हुए हैं। ये उन महान रचनाकारों की कथात्मक रचना हैं जो आज भी हमें विवश करती है कि हम उनको गुनगुनाएं। इन कृतियों की रचना-शक्ति, लयबद्धता, जमीन की गंध आदि एक ऐसी इकाई में बंधकर संपूर्ण रचना का आकार ग्रहण करती है कि काल उसका क्षय नहीं कर पाता है, अपितु उसे निरंतर निखारता ही है।

इधर की कविता में ऐसा प्राणतत्त्व देखने को नहीं मिलता है। कविता धीरे-धीरे व्यक्तिगत और एकांगी वस्तु बनकर रह गयी है। जो कविता अपने साथ जनमानस को बांध लेने की असीम शक्ति रखती थी, वही कहीं हाशिए में पड़ी हुई है। कविता का वह स्वर जो प्रत्येक के गले का स्वर बन जाए, आज सुनाई नहीं पड़ता है। कविताए, कुछ जिल्दों में बंधकर सरकारी खरीद की संजीवनी की तलाश में, प्रकाशकों के रहमोकरम पर है।

मेरे मन में बार-बार सवाल उठता है कि वह कविता जो आदमी के साथ गहरे रिश्ते से जुड़ी हो, कब साहित्य के परिदृश्य पर पुनः अवतरित होगी? निराला, दिनकर, बच्चन आदि के स्वरों से गूंजता कविता का मंच कब अपनी गरिमा को पुनः प्राप्त करेगा? कब कविता, प्रत्येक के गले का स्वर बनकर गुंजायमान होगी?

कब कविता सरकारी खरीद के बल पर नहीं, अपितु अपने पाठकों के दम पर प्रकाशित होगी?

ऐसे अनेक सवाल हैं जो हमें गगनाञ्चल को नया स्वरूप देने के लिए प्रेरित करते हैं। आपके पत्र, इस प्रक्रिया में, हमारे सच्चे मार्गदर्शक हैं। हमें प्रसन्नता है कि गगनाञ्चल के पाठक एक सजग प्रहरी की भूमिका निभा रहे हैं।
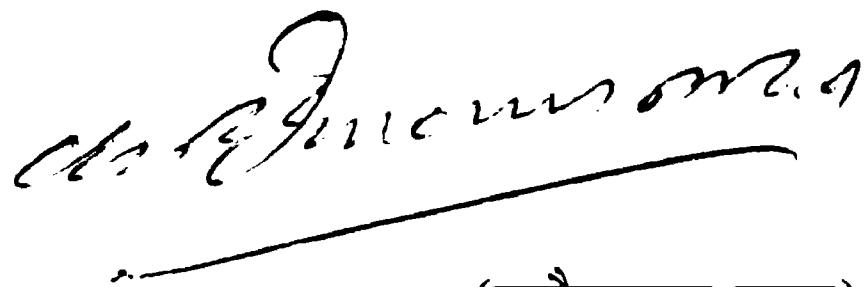
(कन्हैयालाल नन्दन)
संपादक

पाठकों के पत्रों से

गगनाञ्चल के अप्रैल-जून अंक के लिए धन्यवाद! अंक खूबसूरत छपा है, बधाई! और मेरा विश्वास है कि इस अंक की सामग्री पूर्ववर्ती अंकों की तरह मुझे आनंदित करेगी।

पहली झलक में मुझे इस अंक में मुस्लिम लेखकों की अनुपस्थिति खली। मेरा विश्वास है कि उर्दू लेखक अपनी रचनाओं को देवनागरी लिपि में प्रकाशित देखना पसंद करेंगे। अनेक मुस्लिम लेखक ऐसे हैं जो हिंदी में लिखते भी हैं।

गिरीश कर्नाड
बंगलूर

गगनाञ्चल का स्वरूप और कलेवर निरंतर निखर रहा है। उसमें नई दीप्ति आ रही है। हार्दिक बधाई। उत्तरोत्तर विकास के लिए मंगल कामनाएं।

वीरेंद्र मिश्र
राजदूत आश गाबात
(तुर्कमेनिस्तान)

आपने संपादन-भार संभालने के बाद पत्र में नया जीवन ला दिया है। हार्दिक बधाइयां। सामग्री-चयन अत्यंत अनुपम है।

जगदीश निकेतन
बिहार

गगनाञ्चल के अप्रैल-जून अंक ने विशेष रूप से आकर्षित किया। रचनाओं का चयन तथा प्रस्तुतीकरण आकर्षित करता है। आपका श्रम पत्रिका के प्रत्येक पृष्ठ पर दिखाई

देता है। प्रकाशक की ओर से वात्सलाव हावेल की पुस्तक पर प्रेरणादायक शब्दों ने इसे पढ़ने की उत्सुकता जगा दी है। इसी पुस्तक पर लिखी गयी समीक्षा ने इस उत्सुकता में घी का काम किया है। इस किताब को खरीद कर मैं अवश्य पढ़ूंगा। गोपाल चतुर्वेदी, रामदरश मिश्र, भनोत दास की कहानियों तथा रमानाथ अवस्थी के संस्मरण ने बांध कर रख दिया है।

जगमोहन चोपड़ा
चंडीगढ़

अनुक्रम

धरोहर

शुकर गंज निवासी बाबा फरीद येरुशेलम पहुंचे	*इंद्रकुमार गुजराल*	11

चिंतन

जीवन की रचना है आत्मकथा	*इन्द्रनाथ चौधुरी*	14

कहानियां

पांसे	*चित्रा मुद्गल*	21
कुट्टन का पद-त्याग	*पम्मन*	33
पूर्ण	*डॉ. वर्षा दास*	41
छठी मइया	*रंजन कुमार सिंह*	44
संबंध	*डॉ. गुरचरण सिंह*	53

कविताएं

कालीघाट	*कैथरीन क्लिमेंट*	60
वैरागी, कहां तुम्हारा घर	*देवी राय*	63
बीता हुआ शोर	*अवधनारायण मुद्गल*	65
कविता के देश में	*नरेन्द्र जैन*	73
आज का सूर्य	*बालकृष्ण संन्यासी*	74
केरली	*कुबेरदत्त*	76

पंखों की तलाश में

इच्छाओं का गीत	*विनय विश्वास*	78
माँ और आग	*जसवीर त्यागी*	80
गज़ल	*सुर्दशन पंडित*	82

संस्मरण

डलहौजी की सड़कों पर	*रमेश ऋषिकल्प*	83

व्यंग्य

उदास गीतों वाला जंगली	*ज्ञान चतुर्वेदी*	91

बातचीत

नवें दशक की हिंदी कविता	*अजित कुमार*	100

लोक-संस्कृति

गोदना	*डॉ. दिनेश अग्रवाल*	111

आलोचना

कामायनी के अंतिम दृश्य : एक विखंडनात्मक पाठ	*सुधीश पचौरी*	116
केदारनाथ सिंह : मानव-संबंध बने रहने की जिद	*देवशंकर नवीन*	124

समीक्षा

'स्मृतियों के छंद' : डॉ. रामदरश मिश्र के संस्मरणों की किताब	*प्रकाश मनु*	132
अच्छे व्यंग्य के गुणों से युक्त कृति	*विश्वमोहन तिवारी*	141
अवधारणाओं का संकट	*डॉ. पद्मानन्द कश्यप*	147

गतिविधियां

जीवंत गोष्ठियों का समय	*लालित्य ललित*	151
हिंदी : भारत और मॉरिशस के संबंधों की प्रतीक	*अजय कुमार गुप्ता*	161

शुकरगंज निवासी बाबा फरीद येरुशेलम पहुंचे

इंद्रकुमार गुजराल

शुकरगंज के बाबा फरीद येरुशेलम में एक तीर्थयात्रा के रूप में पवित्र भूमि पर गए और एक भारतीय सराय की नींव रख आए जिसका नाम है—ज़वीया अल फरीदीह। शेख नजीर ने इस बेहतरी के लिए बहुत कुछ किया। दो विभिन्न संस्कृतियों को जोड़ने वाली इस पवित्र सराय के इतिहास से हमारा परिचय करा रहे हैं भारत के विदेश मंत्री श्री इंद्रकुमार गुजराल।

पिछली लगभग चार शताब्दियों से येरुशेलम के ठीक मध्य में भारतीय आतिथ्यसत्कार का एक नखलिस्तान मौजूद है, जो इस देश में बहुत अधिक चर्चित नहीं है।

इस सराय की कथा तब प्रारंभ होती है, जब वहां तुर्की शासन था और भारतीय उपमहाद्वीप के पौराणिक सूफी संत—शुकर गंज के बाबा फरीद एक तीर्थयात्री के रूप में इस पवित्र धरती पर गए थे। उनके संत के रूप में गुणों से प्रभावित होकर गवर्नर ने उन्हें मुस्लिम-वक्फ का एक हिस्सा प्रदान कर दिया था जिसमें मस्जिद के दो छोटे कमरे शामिल थे। इसकी तो जानकारी नहीं है कि वे यहां कितने समय रहे, लेकिन उनके व्यक्तित्व का प्रभाव ऐसा था कि ये कमरे और मस्जिद, विशेष रूप से भारतीय आगंतुकों के लिए, एक तीर्थस्थान बन गया। तभी से इसका नाम 'ज़वीया अल-फरीदीह' पड़ गया।

यह भवन जो अब एक न्यास है, पवित्र मस्जिदों 'अल-हरम अल-शरीफ (पवित्र चट्टान का गुंबद) और अल-अक्स' के बिल्कुल नजदीक है। कोई डेढ़ एकड़ क्षेत्र में फैले इस स्थान की जमीन की कीमत भी बहुत अधिक है। तुर्की शासकों द्वारा इस स्थान के

रख-रखाव के लिए दस जार्डन-दीनार की सालाना सहायता भी दी जाती थी। तदुपरांत अंग्रेज और जार्डन के शासकों ने भी इस सहायता को जारी रखा। तीर्थयात्रियों की बढ़ती संख्या की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए तुर्की के शासकों ने इसके बाद गाज़ा में कई और भवन बनवाए थे।

पहले विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद इज़राईल में तुर्क शासन का पतन हुआ और वहां ब्रिटिश का कब्जा हो गया। भारत के विशिष्ट मुस्लिम नेताओं से मिलकर फिलिस्तीनी मुद्दे पर बातचीत करने और न्यास के लिए समर्थन जुटाने के इरादे से, 1992 में येरुशेलम के बड़े-मुफ्ती ने एक प्रतिनिधि मंडल वहां भेजा था। सम्माननीय अली-बंधु : मौलाना मोहम्मद अली जौहर और शौकत अली, डॉ. अंसारी और हकीम अज़मल खां ने इस प्रतिनिधि-मंडल के प्रति सहयोगी रुख अपनाते हुए, सहारनपुर के ख्वाज़ा नज़ीर हसन अंसारी को सराय का प्रशासनिक और रख-रखाव हेतु भारत का प्रतिनिधि नियुक्त किया। बड़े-मुफ्ती ने इस चयन का स्वागत किया और उन्हें शेख तथा संपत्ति का पूर्ण-न्यासी की पदवी प्रदान की।

शेख नज़ीर, जिनका निधन 1953 में हुआ, ने इस स्थान की बेहतरी के लिए बहुत कुछ किया। वे धनराशि जुटाने के लिए कई बार भारत आये। बहावलपुर, रामपुर और हैदराबाद के नवाबों की दानशीलता धन्य है, जिसके कारण वहां तीन हिस्से बनाये जा सके। आज भी वहां इन दिवंगत नवाबों के नाम खुदे हुए हैं।

शेख नज़ीर अंसारी की भारतीय पत्नी, जो उनके साथ दूर-दराज के देशों में गयीं, उनके यहां चार बेटे पैदा हुए, जबकि उनकी फिलिस्तीनी पत्नी से एक बेटा हुआ। इसका नाम शेख मुनीर अंसारी था, जो उनके उत्तराधिकारी के रूप में न्यासी हुए। इनकी पदवी उनके बेटे नज़र हुसैन—जिनका नाम अपने दादा के नाम पर रखा गया था, ने संभाली हुई है। इनके दूसरे भाई सउदी अरब में रहते हैं। नजर हसन की पत्नी, 'वफा' खूबसूरत फिलिस्तीनी महिला हैं। उनके छह साल व उससे अधिक उम्र की तीन बेटियां हैं।

इस परिवार के साथ कुछ समय व्यतीत करना सचमुच में मेरे लिए सम्मान की बात थी। तब मुझे जानकारी मिली कि दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान, मध्य-पूर्वी देशों में नियुक्त भारतीय फौजों के ठहराने के लिए, अंग्रेजों ने इस भारतीय सराय का उपयोग किया था। इसके लिए शासकों ने दिल्ली तथा त्रावनकोर नाम के हिस्से जोड़े थे। वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी संगठन इनका प्रयोग विस्थापित और असहाय लोगों को राहत देने के लिए कर रहा है।

स्वतंत्र भारत के कैरो में पहले राजदूत 1950 में सराय गए थे और भारत सरकार की सालाना छह हजार रुपये की सहायता राशि देने की स्वीकृति के बारे में बताया था। लेकिन जरूरत अधिक धन की थी। अतः बारह दुकानें और पहली मंजिल पर किराये के उद्देश्य से रिहायशी स्थल बनाने के लिए एकमुश्त पैसा दिया गया। यह परियोजना युद्ध के

कारण अधूरी ही रह गई।

1967 के युद्ध के दौरान एक बम के सीधे हमले के कारण इस भवन को गंभीर क्षति पहुंची थी और शेख नज़ीर की मां व अन्य कई परिवार के सदस्यों की मौत हो गई थी। भारत सरकार द्वारा भवन को पहुंचे नुकसान की मरम्मत के लिए न्यास को सहायता दी गई; लेकिन इसके लिए और अधिक धन की जरूरत है।

शेख नज़ीर, एक प्रशिक्षित सिविल इंजीनियर, ने सऊदी अरब में अपनी आकर्षक आय वाली नौकरी छोड़, इस संपत्ति की देखभाल का जिम्मा लिया है। वे उम्मीद करते हैं कि आने वाले दिनों में भारत से बड़ी संख्या में तीर्थयात्री इस पवित्र भूमि पर आयेंगे और इस सराय का एक बार फिर से वही उपयोग होने लगेगा, जिसके लिए वह बनाई गई थी। वर्तमान और आने वाले अत्यावश्यक खर्चों की पूर्ति के लिए न्यास के भवन का एक हिस्सा एक स्थानीय मुस्लिम संस्था को एक किंडरगार्डन स्कूल चलाने के लिए किराये पर दे दिया है। अब यह व्यवस्था रद्द की जा रही है। श्री शेख का कहना है—"मैं आपको यह भी सूचित करना चाहूंगा कि इस्राइली प्रशासन ने भारतीय सराय के मामले में कतई दखल नहीं दिया है क्योंकि यह येरुशेलम के मुस्लिम वक्फ नियमों के अनुसार स्थापित है।" वे भारतीय विशिष्टताओं के प्रतीक इस अनूठे और ऐतिहासिक स्थान द्वारा भविष्य में निभाई जाने वाली भूमिका के प्रति काफी आशान्वित हैं। □

अनुवाद : पंकज चतुर्वेदी

जीवन की रचना है आत्मकथा

इन्द्रनाथ चौधुरी

आत्मकथा क्या स्वतंत्र साहित्यिक विधा है? इस प्रश्न पर एक बहस आरंभ हो गयी है। साहित्य अकादमी के भूतपूर्व सचिव तथा भारतीय ज्ञानपीठ के वर्तमान निदेशक प्रो. इन्द्रनाथ चौधुरी इस प्रश्न का तार्किक दृष्टि से विश्लेषण कर रहे हैं। आत्मकथा के विभिन्न तत्त्वों का वर्णन करने के साथ-साथ उन्होंने उसके भिन्न स्वरूप की विस्तार से चर्चा की है।

पांचवें दशक के मध्यभाग तक जीवनी के एक विशेष प्रकार के रूप में आत्मकथा का उल्लेख होता था तथा इतिहास और साहित्य का एक ढंग से सौतेला भाई माना जाता था जबकि ये दोनों अनुशासन स्वतंत्र अध्ययन की दृष्टि से आत्मकथा को एक प्रतिष्ठित विषय मानने के लिए तैयार नहीं थे। इसी प्रकार मनोविज्ञान, मानवविज्ञान, समाजविज्ञान, धर्मशास्त्र ने उदाहरण के रूप में—आत्मकथा का अपने ढंग से इस्तेमाल किया परंतु हमेशा आनुषंगिक (Ancillary) विषय के रूप में, सहायक साहित्य के रूप में, कभी भी रचना की एक ऐसी विधि के रूप में नहीं जिसका एक अपना अधिकार है और जिसका दार्शनिक, साहित्यशास्त्रीय तथा भाषावैज्ञानिक परीक्षण उसी रूप में संभव है जैसा कि साहित्य की किसी और विधा का। मगर अब स्थिति काफी बदल गई है। अब साहित्य की एक विधा के रूप में इस पर विचार-विश्लेषण हो रहा है। साहित्य अकादमी ने कुछ साल हुए आत्मकथा, जीवनी और संस्मरण पर एक संगोष्ठी आयोजित की थी। दूसरी संगोष्ठियां भी आयोजित हुई।

दरअसल एक ओर आत्मकथा *अतीत के साथ आत्मा के अस्तित्व के ऐतिहासिक*

संबंध का संकेत देती है तो दूसरी ओर आत्मकथा के संदर्भ और संरचना का आमतौर पर उपन्यास के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है। एक ओर उसे व्यक्ति-इतिहास माना जाता है और दूसरी ओर उसे व्यक्ति द्वारा रचा गया साहित्य। यहां कई सवाल उठते हैं। क्या इतिहास की कालानुक्रमिकता आत्मकथा में बरकरार रहती है? दो, व्यक्ति-जीवन से संबद्ध घटनाएं क्या हूबहू उसी रूप में इस्तेमाल की जाती हैं? अगर यह सही है तो क्या उसे हम साहित्य कह सकते हैं? क्योंकि घटनाएं जब तक कहानी नहीं बनतीं यानी वस्तु जब तक विभाव नहीं बनती तब तक उसे हम साहित्य नहीं कहते। और फिर यदि ऐसा होता है तो आत्मकथा की सत्यता कहां रही? आत्मकथा और आत्मकथात्मक उपन्यास में निश्चय ही कहीं अंतर जरूर होता होगा। तीन, आत्मकथा की वर्णनात्मकता क्या ऐतिहासिक यथार्थ है या व्यक्तिगत तथा सांस्कृतिक यथार्थ यानी क्या यह अनुभवात्मक (Exprimental) यथार्थ है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए सन् 1912 में रचित रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'जीवन-स्मृति' का संदर्भ उठाया जा सकता है। 'जीवन स्मृति' में रवीन्द्रनाथ ने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि आत्मकथा हूबहू जीवन की नकल नहीं होती। आत्मकथाकार अपनी अभिरुचि के अनुसार काफी कुछ छोड़ देता है और काफी कुछ रखता है। कितने बड़ों को छोटा बना देता है और छोटों को बड़ा। वह आगे की चीज़ को पीछे और पीछे की चीज़ को आगे ले आता है। वस्तुतः उसका काम चित्र बनाना है, इतिहास लिखना नहीं। इस तरह जीवन के बाहर घटना की धार बहती दिखाई पड़ती है और भीतर चित्र आंकना चलता रहता है। दोनों के भीतर एक संबंध है मगर दोनों ठीक एक नहीं। दरअसल व्यक्ति-लेखक के जीवन से संबद्ध कालानुक्रमिक इतिहास किस प्रकार कलात्मक अभिव्यक्ति होकर सांस्कृतिक क्षणों को प्रकट करता है वही आत्मकथा निर्धारित करती है। संरचना की दृष्टि से दस में से नौ आत्मकथाएं स्मृति चारण की आकारहीन असंबद्ध अभिव्यक्ति होती हैं अथवा कालानुक्रमिक व्यवस्था का वैश्विक इतिहास होता है। उनकी बात यहां नहीं उठाकर उन व्यावसायिक लेखकों की बात करना ठीक रहेगा जिनके लिए आत्मकथा रूप (Form) से जीवन में अवतरण है जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर अथवा अमृतलाल नागर या जोश मलीहाबादी या फिर कर्मयोगी शौकीन लेखकों की बात की जा सकती है जिनके लिए आत्मकथा जीवन से रूप में आरोहण है जैसे महात्मा गांधी की आत्मकथा, सत्य के प्रयोग। लेखक रूप (Form) को छोड़ नहीं सकता। और कर्मयोगी जीवन को त्याग नहीं सकता हालांकि जीवन से लेखक मुंह बाये नहीं रहता। लेखक के अनुभव (वस्तु) तथा भाषा में उसकी अभिव्यक्ति (चित्र) आत्मकथा में सह-विस्तृत (Coextensive) होती है। लेखक की आत्मकथा शिल्प और प्रयोग है और कर्मयोगी के लिए जीवन का इतिवृत्त है। एक के लिए कला जीवन का निर्माण करती है और दूसरे के लिए जीवन से कला निर्मित होती है। कला जीवन का निर्माण करती है जैसे वाक्य समस्यात्मक (Problematic) है। घटनाएं जब तक कहानी नहीं बनती

तब तक वह साहित्य नहीं होता मगर यथार्थ जीवन या घटनाओं से कहानी अलग होने पर भी दोनों की स्थिति श्याम देश के जुड़वे बच्चों (Siamise Twin) की तरह होती है—अलग है मगर फिर अलग नहीं भी है। कला से जीवन निर्माण की बात कही जा रही है क्योंकि अंततः उसे साहित्य बनना है। रवींद्रनाथ ने कहा है कि "हमारी स्मृति में ऐसा कुछ नहीं है जो चिरस्मरणीय बने रहने के योग्य है किंतु विषय की मर्यादा पर ही साहित्य निर्भर है ऐसी बात नहीं जिसे हमने अच्छे ढंग से अनुभव किया है उसे अनुभवगम्य करने से ही मनुष्य के पास उसका आदर है।" यही कला का काम है इसीलिए कहा जाता है कि व्यावसायिक लेखक अपनी आत्मकथा में कला से जीवन का निर्माण करता है। इसी बात को और एक जगह स्पष्ट करते हुए रवींद्रनाथ ने कहा है कि मूर्ति का विश्लेषण करने पर सिर्फ मिट्टी ही हाथ लगती है, शिल्पी का आनंद प्राप्त नहीं होता। जोश मलीहाबादी ने 'यादों की बारात' में लिखा है :

"पचहत्तर बरस (1872 में प्रकाशित) की पहाड़-सी जिंदगी का अहाता करना बच्चों का खेल नहीं है। मैंने बुझे हुए हाफ़िज़े के तह-दर-तह पेचीदा और घोर अंधेरों में टटोल-टटोलकर यह सफ़र तय किया है, उन अंधियारों में मेरे हालात इस कदर उलझे और एक-दूसरे पर चढ़े हुए मिले कि यह पता नहीं चलता था कि कौन घटना पहले की है और कौन बाद की। और भूलों का रेवड़ मुझे किस तरफ़ लिए जा रहा है।" जोश की यह अंधियारी 'जीवन स्मृति' में उल्लेखित रवींद्रनाथ की 'हृदय-अरण्य' नामक एक कविता में भी दिखाई पड़ती है :

हृदय नामक एक विशाल अरण्य है
उसकी दिशाओं का कोई किनारा नहीं
उसी में मैं अपना पथ खो बैठा।
वह वन अंधेरे से ढका हुआ, पेड़ों
की जटिल शाखाएं फैली हुईं
सहस्र स्नेह के बाहुओं से
मैं अपने वक्ष में उस अंधेरे को पाल रहा हूं।

इससे एक बात स्पष्ट होती है कि इतिहास की कालानुक्रमिक व्यवस्था मानव व्यवस्था का स्वाभाविक निरूपण नहीं है और इसीलिए आत्मकथा की कोई स्वाभाविक वर्णनात्मक संरचना (Narrative Structure) नहीं है। आत्मा की यथार्थ प्रकृति को समझने के लिए जो अंधेरे से आवृत्त है, स्मृति-सहायक स्मरणोकारी (Mnemonic) संरचना को स्वीकारना ज्यादा जरूरी है जो इतिहास की रैखिक कालानुक्रमिक संरचना से अलग मानव-मन के तह में घुस

कर उसे उद्घाटित करती है। और फिर उस विशाल अरण्य का अंधेरा सिर्फ रवींद्र का नहीं, जोश का भी है, वह अंधेरा हरेक का है इसलिए जब पंडित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी अपनी दीदी कैथेराइन के हवाले व्योमकेश को लिखी चिट्ठी से इस बात को स्पष्ट करते हैं तो लगता है आत्मा की कहानी तो सिर्फ़ एक व्यक्ति की कहानी नहीं, सिर्फ बाणभट्ट की कहानी नहीं, वह हरेक की कहानी है। दीदी कहती हैं, "भोले, बाणभट्ट केवल भारत में ही नहीं होते। इस नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।" 'कुटज' में पंडित जी इस बात को और एक दफ़ा स्पष्ट करते हैं, "व्यक्ति की 'आत्मा' केवल व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह व्यापक है। अपने में सब और सबमें आप—इस प्रकार की एक समष्टि-बुद्धि जब तक नहीं आती तब तक पूर्ण सुख का आनंद भी नहीं मिलता।" शांतिप्रिय द्विवेदी अपनी साहित्यिक आत्मकथा 'परिव्राजक की प्रजा' में इसी विचारधारा की पुष्टि करते हैं। कहते हैं कि मेरी यह आत्मकथा 'आपबीती जगबीती' के अनुसार सब की कथा बन गयी है—

> *"यही मेरा, इनका, उनका सबका स्पन्दन*
> *हास्य से मिला हुआ क्रंदन*
> *यही मेरा, इनका उनका, सबका जीवन।"*

इसलिए पश्चिमी दृष्टि से आत्मकथा में जिस कैथोलिक ख्रीस्तीय पाप-स्वीकार (confession) या आत्मनिरीक्षण (Scrutiny of the self) का महत्त्व है उससे अलग भारतीय दृष्टि में आत्मा की कथा में विश्वात्मा की कथा प्रकट होती है। अमृतलाल नागर जब 'टुकड़े- टुकड़े दास्तान' में कहते हैं कि आत्मकथा के संबंध में सदा से उनका मत रहा है कि उसे कोरी अहम-कथा बनाकर लिखने से बेहतर है न लिखना तो यही प्रमाणित हो जाता है कि चाहते या न चाहते हुए भी अपनी आत्म-सचेतनता के उद्घाटन में सांस्कृतिक प्रतिमानों से चिन्हित हम सांस्कृतिक प्राणी ही प्रमाणित होते हैं इसलिए आत्मकथा हमारे लिए सांस्कृतिक क्षणों की अभिव्यक्ति है। पश्चिम की पहली आत्मकथा सेंट ऑगस्टीन का कॉनफेशन है। बाद में अठारहवीं शती के दूसरे भाग में रचित रूसो के कॉनफेशन से पश्चिमी आत्मकथा का सूत्रपात होता है। वहां बल था आत्मनिरीक्षण और आत्मविकास पर मगर भारत में बल रहा है आत्मोपलब्धि पर। भारतीय चिंतन में मनुष्य दो धरातलों पर विराजमान है। एक, देश और काल का धरातल और दो, इन दोनों के परे का धरातल। प्रकृति और प्राणीमात्र से तादात्म्य के द्वारा देश को पार किया जाता है और काल को पार करने के लिए संतति में स्व का प्रक्षेपण किया जाता है, अपने को सबमें देखा जाता है। यह एक ऐसा अस्तित्व है जो देशकालयुक्त है और मुक्त भी। यहां इतिहास का अस्वीकरण नहीं, उसे पार कर जाना है। यहां नर इतिहास की रैखिक गति से युक्त है और नर में बसने वाला नारायण-अ-

ऐतिहासिक कालातीत है। इसीलिए पंडित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी 'अशोक के फूल' में कहते हैं, "फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अंतर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूं।" मैं और अंतर्यामी की यह द्वैत स्थिति मनुष्य को इतिहास के साथ मिथक और पुराण से भी जोड़ती है। यहां Christine Downing का 1977 में लिखित एक निबंध Re-visioning Autobiography की एक पंक्ति उपर्युक्त विचारधारा के पक्ष में उद्धृत करना ठीक रहेगा :

> "Autobiography must abandon their traditional reliance on an historicist approach to life history in favour of a psychoanalytically informed act of poiesis that would feature primary process, dream material, fiction and myth.

दूसरे शब्दों में आत्मकथा स्व के बारे में आत्मकथाकार की अवधारणा की अभिव्यक्ति होती है और उसी रूप में आत्मकथा को समझने की कोशिश पिछले तीन-चार दशकों से बढ़ती जा रही है। यह दरअसल भारतीय दृष्टि का संप्रसार है।

अगर बात ऐसी है तो सवाल उठेगा कि आत्मकथा में वर्णनात्मक संरचना (narrative structure) का स्वरूप क्या है। यह मात्र एक साहित्यिक रूढ़ि नहीं वरन् बोध और ज्ञान की विधि है। चेतनता की मूलभूत संरचनाओं को यह प्रतिबिंबित करती है या उससे उत्पन्न होती है। इसीलिए *वर्णनात्मक संरचना व्यक्तिगत तथा सांस्कृतिक यथार्थ यानी अनुभवात्मक* (experiential) यथार्थ है। कर्मयोगी शौकीन लेखकों के लिए *आत्मकथा जीवन से कला* का निर्माण करती है। उनके लिए जीवन का महत्त्व सर्वाधिक है। ऐसे लेखक केवल वर्णन नहीं करते—उसका एक क्रिटिकल काम होता है—to discover values and meaning *in the social world*. समाज केवल सामाजिक संस्थाओं का जोड़ नहीं—उसमें नार्मस होते हैं, बिहेवियर का मानदंड होता है तथा मूल्य होते हैं जिनको सामाजिक ढंग से स्वीकारा जाता है। इन्हीं स्तरों पर लेखक सामाजिक वस्तुओं को उजागर करता है। गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "*सत्य को मैंने जैसा देखा है, जिस मार्ग से देखा है, उसे बताने का मैंने सतत प्रयत्न किया है, क्योंकि मैंने यह आशा रखी है कि उससे पाठकों के मन में सत्य और अहिंसा के विषय में अधिक आस्था उत्पन्न होगी।*" दूसरी ओर व्यावसायिक लेखकों के लिए बोध और ज्ञान से मुक्त वर्णनात्मक संरचना शिल्पी के आनंद को प्रकट करती है। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'मेरी जन्म भूमि' में इसकी पुष्टि की है। उनका कहना है, "*मेरा विचार यह है कि इतिहास का साहित्य कुछ बड़े-बड़े व्यक्तियों के उद्भव और विलय के लेखे-जोखे का नाम नहीं है। वह जीवन—मनुष्य के धारावाहिक जीवन—के सारभूत रस का प्रवाह है।*" *आत्मकथा की वर्णनात्मक संरचना के द्वारा जीवन के सारभूत*

रस की अभिव्यक्ति होती है नहीं तो जीवन का मात्र कालानुक्रमिक वर्णन (ticking tine) अर्थहीन मृत्यु तक ले जाती है : जन्म, यौवन, बुढ़ापा और फिर मृत्यु और कुछ नहीं। यहां रोलां बार्थ के द्वारा लिखी गयी आत्मकथा Roland Borthes (1975) का उल्लेख किया जा सकता है। पश्चिम में अब मात्र आत्मनिरीक्षण और आत्मविकास की कथा नहीं लिखी जा रही। बार्थ अपनी आत्मकथात्मक डिस्कोर्स को आनुक्रमिक वर्णनात्मक घटनाओं की एकक संरचना नहीं बनाना चाहते थे। उन्होंने कहा :

> "I do not say :
> I am going to describe myself'
> but : 'I am writing a text,
> and I call it R.B.' ... Do I
> not know that, in the field of the
> subject there is no referent?"

दरअसल रोलां बार्थ का कहना है कि पुस्तकों के पाठक के रूप में हमारा प्रदर्शन संकुचित साहित्यिक की अपेक्षा व्यापक सांस्कृतिक होता है जो हमारे सामाजिक ढांचे से संबद्ध वर्णनात्मक फार्मूलों से अनुबंधित (conditioned) होता है। (भूमिका एस/ज़ैड)। मगर क्या कर्त्ता का कोई प्रसंग नहीं होता? ऐसी बात नहीं कि इस आत्मकथा में कोई संदर्भ या प्रसंग नहीं है वरन् बार्थ का उद्देश्य था कि ऐतिहासिक स्व के स्थान पर पाठगत स्व (textual self) को प्रतिष्ठित करना जो स्व पाठ (Text) के माध्यम से उभरकर आया हो यानी आत्मकथा को घटना से कहानी तक ले जाना है जिससे कि साहित्य का आस्वाद *लिया जा सके जो एक सांस्कृतिक संदर्भ में विकसित हुआ हो। मगर इसका अर्थ यह नहीं* कि सांसारिक घटनाओं की कोई कीमत ही नहीं क्योंकि रैखिक समय से जुड़ा हमारा जीवन और उसकी नश्वरता आत्मकथा लिखने की प्रेरणा देती है मगर फिर भी, आखिरकार यह कहना पड़ता है भले ही गले के स्वर में उदासी लाते हुए कि आत्मकथा जीवन को रचती है, जीवन आत्मकथा की रचना नहीं करता। इस विरोधाभासात्मक विचारधारा का अर्थ मात्र यही है कि जिन व्यक्तियों की आत्मकथाएं रचित होती हैं वे विशिष्ट व्यक्ति होते हैं जिनमें रचित होने की प्रत्याशा रहती है, जो अपनी वर्णनात्मकता के बारे में सचेतनता लिए जीते हैं। इसीलिए फिर कहना पड़ता है कि आत्मकथा जीवन की रचना करती है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों को समर्थन में उद्धृत करते हुए अपनी बात खत्म करूंगा। जीवन-स्मृति में रवीन्द्रनाथ कहते हैं :

"जीवन के बाहर घटनाओं की धार बह रही है, और भीतर की ओर चित्र आंकने का काम चल रहा है। दोनों में संबंध है, मगर दोनों ठीक एक नहीं। ... जो चित्रकार *लगातार आंके जा रहा है, वह क्यों आंक रहा है, उसकी आंकना जब समाप्त होगा तब ये*

तस्वीरें किसी चित्रशाला में टांगकर रखी जायेंगी, यह कौन कह सकता है।''

कुछ साल हुए एक दिन किसी के मेरे जीवन की घटनाओं के बारे में पूछने पर, एक बार इस चित्रशाला में खबर लेने गया था। सोचा था, जीवनवृत्तांत के दो-चार मोटे-मोटे उपकरण बटोरकर काम खत्म करूंगा। किंतु दरवाज़ा खोलकर देखा, जीवन की स्मृति जीवन का इतिहास नहीं—वह किसी एक अदृश्य चित्रकार की अपने हाथ की रचना है। उसमें नाना स्थानों पर जो भांति-भांति के रंग लगे हुए हैं *वह बाहर का प्रतिबिंब नहीं—वह रंग उसके अपने संग्रह से है, उस रंग को उसने अपने रस से घोला है,* इसलिए पट पर जो तस्वीर है, वह अदालत में गवाही के लिए इस्तेमाल में नहीं लाया जा सकता। अब क्या मैं अपने गले के स्वर की उदासी को सांत्वना दे सकता हूं? □

पांसे

चित्रा मुद्‌गल

चित्रा मुद्‌गल की कहानियां जिंदगी को बहुत करीब से देखने का माध्यम हैं। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए एक लेखिका के संवेदनशील हृदय से छल करने वाले विवेक बत्तरा जीवन में बहुत हैं और उनकी पहचान 'पांसे' जैसी कहानियों से ही हो पाती है। 'गगनांचल' के लिए विशेष रूप से लिखी इस कहानी की जीवंत भाषा आपको अपना प्रशंसक बना लेगी।

वह पत्र उठाती है, लिखावट देखती है। पढ़ती है और उन पत्रों के महत्त्व के मुताबिक उन पर 'अनावश्यक', 'आवश्यक' या 'अत्यावश्यक' टिप्पणी-सी लिखकर छांट लेती है। सबसे पहले नंबर आता है 'अत्यावश्यक' पत्रों का। आज अत्यावश्यक की श्रेणी में मात्र एक खत है। उस खत को छांटने के उपरान्त एक से अधिक बार पढ़ चुकी है। उत्तर लिख लेने के बाद 'अत्यावश्यक' पुनः दृष्टि के नीचे से गुजरने लगता है। एक बार ... दूसरी बार ... और शब्दों के अर्थ यकबयक दृश्यों में परिवर्तित होने लगते हैं। वह आवेगमय हुलसन से सिहर उठती है। यंत्रचालित-सी उंगलियां टेलीफोन के नंबरों पर घूमने लगती हैं ... इस आकस्मिक खुशी को निगम से बांट लेना चाहती है। अभी, इसी समय। आकस्मिक खुशी का अपना रोमांच होता है। उसे तुरंत न बांटा जाये तो हुलसन अपने ही भीतर बंद बुसने लगती है।

आखिरी नंबर घुमाते ही कान चोंगे से सट गये। घंटी बज रही है। "हलोऽऽ" भी होने लगी। निगम "हलोऽऽ" को बहुत खींचते हैं ... मगर प्रत्युत्तर में वह कुछ सोचती हुई-

सी खामोश हो आयी है। यूं ... यूं मजा नहीं आयेगा इतनी बड़ी उपलब्धि का। फोन उसके चेहरे पर थिरकते इंद्रधनुष को अभिव्यक्त नहीं कर पायेगा। उसकी उत्तेजक खुशी मात्र सूचना बनकर रह जायेगी।

"हलोऽऽ" कई बार खिंची, फिर वहीं से फोन रख दिया गया।

धैर्य से शाम होने की प्रतीक्षा करेगी। समय ही कितना है। कलाई पलटकर देखा तो तसल्ली हुई कि ठीक डेढ़ घंटे बाद निगम घर में होंगे। तब तक रसोई का काम निबटा लेती है ताकि उनके आने पर फुरसत से बैठ सके। बच्चों की आदतें भी बड़ी अजीब हैं। उसे फुरसत से बैठा-बतियाता नहीं देख सकते। ठीक उसी समय उन्हें या तो भूख लग आयेगी या हिंदी का गृहकार्य याद हो आयेगा। आज हुड़दंगियों को कोई ऐसा मौका नहीं देना चाहती जिससे उसके अपने रोमांच में व्यवधान पड़े। चुलबुली बिटिया के कोड शब्दों में कहें तो "मौसम अच्छा है" और वह अपनी तरफ से निगम के लिए ड्रिंक की ट्रे तैयार कर सकती है। वे अगर भूलकर भी मनुहार करेंगे तो संकोच का नाटक करते हुए दो चम्मच ब्रांडी आधा गिलास पानी में मिलाकर स्वयं भी साथ दे देगी। हालांकि निगम उसकी छद्म उदारता का उपहास उड़ाने से नहीं चूकते—"इससे तो बेहतर है कि सादे पानी का गिलास ही साथ लेकर बैठ जाओ!" प्रत्युत्तर में वह बगैर चिढ़े हंस देती—"अपने तो इतने में ही पांव डांवाडोल होने लगते हैं।" वे पलटकर कटाक्ष जड़ते—" क्यों बिचारी ब्रांडी की तौहीन करती हो! पांव तो तुम्हारे वैसे भी डांवाडोल होते रहते हैं। तुम्हारे तो खून में शराब है। बाप ने जो बाल्टियों पी, आखिर वह गयी कहां ..."

जानती है। उसकी खुशी से वह खुश तो होंगे मगर आयोजन देख ताना कसे बगैर नहीं मानेंगे कि अपनी मामूली से मामूली खुशी भी 'सेलीब्रेट' करने से नहीं चूकती। मगर हमारा कोई विशेष मौका होता है तो "बहाना खोज रहे हो पीने का?" कहकर धौंसियाने लग जाती हो। क्यों?

रसोई से भी निपट गयी। बच्चों से भी पूछ लिया कि अगर हिंदी का 'गृहकार्य' करना है तो वह अभी इसी वक्त उन्हें लेकर बैठ सकती है। बच्चों ने उसे अचरज से देखा—"कहीं जाना है, अम्मा?" (उसने बच्चों को अम्मा कहना ही सिखलाया है) "नहीं तो।" उसने अस्वीकार में सिर हिलाया। मन में इच्छा कुलबुलाई कि उन्हें भी आज की तत्परता का कारण बता दे। फिर यही लगा कि जब इतनी देर से धीरज गठियाये बैठी हुई है तो कुछ देर सब्र और सही।

ठीक सवा छह पर वह लिफ्ट से लगे गलियारे में आकर टहलने लगी। बच्चे नीचे क्लब में टेनिस खेलने उतर गये हैं। एकाएक मोटर-साइकिल का कर्णभेदी शोर कानों में पड़ा। होठों पर स्मित दौड़ गया। वह टहलते हुए अनुमान लगाती रही कि अब निगम ने बेसमेंट में गाड़ी पार्क की। अब वे लिफ्ट में दाखिल हुए। घुर्र करती लिफ्ट ऊपर सरकने

लगी है। वह 'लिफ्ट' के करीब थमक गयी। सूचनापट्ट पर अंक गुलाटी खा रहे हैं—छह, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह। 'हिच' करती लिफ्ट ठहरती है। स्वचालित दरवाजे खुलने लगते हैं। 'हेलमेट' और बैग थामे बाहर होते निगम उसे सामने खड़ा पा विस्मित से चहकते हैं—"जहे किस्मत।" फिर साथ चलते हुए संशयित स्वर बनाकर उसे छेड़ते हैं—"हमारी प्रतिक्षा दरवाजे पर ... मामला क्या है?" वह इतराती-सी लंबी सांस भरती है—"मामला टोस्ट होगा तभी बताया जायेगा।"

"तब तो लाटरी खुल गयी अपनी!" उत्साहित हो निगम उसे दरवाजे पर ही भींच लेते हैं। आज वह आपत्ति नहीं करती। कोई देखे तो देखता रहे।

कमरे में प्रवेश करते ही वे बाथरूम की ओर बढ़ देते हैं—"फटाफट आया कपड़े बदल के।"

वह खिन्न हो जाती है। निगम ने कारण जानने के लिए बिलकुल उत्सुकता नहीं दिखाई। वे उत्साहित और खुश हो रहे हैं तो केवल इस बात से कि आज उन्हें पीने की छूट होगी। क्यों नहीं पूछा उससे कि आखिर बात क्या है? वह इतनी आनंदित और उदार क्यों हो रही है? पता नहीं वे किसी अवसर को विशिष्ट क्यों नहीं बना पाते? वह बहुत भावुक हैं। उनकी तटस्थता ने उसका सारा मूड चौपट कर दिया। खैर, जानती है कि यह कोई आज की ही बात नहीं है। कुछ कहने-सुनने से भी फर्क पड़ने वाला नहीं। फिर आज वह किसी भी तरह की झिक-झिक नहीं चाहती। छोटे-छोटे मन-मुटावों और असहमतियों से यह उपलब्धि बहुत ऊंची है ...

"छींटें ही न मार दूं गिलास पर?" उसकी ना-नुकर पर वे उखड़े—"जब साथ बैठी हो तो एक छोटा-सा 'पैग' ले लेने में हर्ज?"

"ओफ़ ...! चलो, बना दो।" उसने हथियार डाले। उसके भीतर खुशी प्रकट होने को कुलबुला रही है। पल-पल पहाड़-सा बोझिल हो रहा है। दोनों गिलास बर्फ से भर कर उन्होंने उसका गिलास उसे थमाया। फिर अपना उठाकर बोले, "चीयर्ज़!"

"चियर्ज़!" उसने भी हाथ ऊपर उठा दिया—"मैं आज बहुत खुश हूं।"

"लेकिन किसलिए?"

"मेरी कहानी पर दूरदर्शन से फिल्म बनाने का प्रस्ताव प्राप्त हुआ है इसलिए।"

"क्या?"

अब लगा कि वाकई 'चियर्ज़' हुआ है। भाव-विह्वल से निगम ने उसके चेहरे को अंजुरी में भरकर चुंबनों की बौछार लगा दी। वह आत्मविभोर-सी रोमांच को घूंट-घूंट जीती रही। अलग हुए तो सवाल किया उन्होंने, "भई बना कौन रहा है?"

वह दौड़कर पत्र उठा लाई और उतावली-सी उन्हें पढ़कर सुनाने लगी कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के एक भूतपूर्व छात्र विवेक बत्तरा जो स्वयं रंगमंच के अनुभवी रंगकर्मी हैं

और कई प्रतिष्ठित नाटकों को निर्देशित ही नहीं, उनमें अभिनय भी कर चुके हैं, दिल्ली दूरदर्शन के लिए एक फिल्म बनाने की सोच रहे थे। फिल्म का विषय चुनने की जटिल समस्या से अरसे तक उलझे रहने के उपरांत संयोग से उन्हें किसी ने उसकी विवादास्पद कहानी 'यही जवाब है' के विषय में सुझाया। कहानी पढ़ते ही वे अभिभूत हो उठे। तत्काल अपने सहकर्मियों से मिले। उन्हें एक बैठक में कहानी पढ़कर सुनाई। कहानी के चुनाव पर सभी मित्र मुक्त कंठ से एकमत हुए। मित्रों द्वारा कहानी पर सहमत होते ही विवेक बत्तरा ने दूरदर्शन अधिकारियों को भी कहानी पढ़ने को दी। इत्तिफ़ाक से दूरदर्शन की सुप्रसिद्ध निर्माता अमला भटनागर, जिन्होंने दूरदर्शन पर कई चर्चित नाटकों का निर्देशन किया है, को कहानी बहुत पसंद आयी है। वे चाहती हैं कि फिल्म का निर्देशन, निर्माण वे स्वयं करें। विवेक बत्तरा मात्र फिल्म की पटकथा एवं संवाद लिखें और कहानी के जटिल केंद्रीय चरित्र, नपुंसक पति की अंतर्द्वन्द्वपूर्ण भूमिका साकार करें। विवेक बत्तरा को इस प्रस्ताव पर कोई आपत्ति नहीं है। बस जल्दी से जल्दी वह 'यही जवाब है' के फिल्मीकरण की अनुमति भिजवा दें ताकि वे कहानी पर अधिकारिक रूप से काम आरंभ कर सकें।

"वाह! वाह! ... तुम्हारी तो पौ बारह ..." निगम ने पुनः लड़ियाकर उसे बधाई दी और कहा, "इसको कहते हैं घर का जोगी जोगड़ा, आन गांव का सिद्ध! तुम रहती हो फिल्म नगरी बंबई में। पर इधर किसी ने कभी तुम्हारी कहानियों को घास नहीं डाली।"

"यहां हिंदी पढ़ने वाले हैं ही कितने?" उसने बात काटी।

"यह भी गलत नहीं। चालू अंग्रेजी उपन्यासों और फिल्मों से तो प्लॉट मार-मूर फिल्में बनाते हैं ... ये क्या जानें ..." उनकी बात अधूरी रह गयी। लगातार बजती घंटी ने उसे खिझा दिया। भन्नाती हुई उठी कि बच्चों की यही हरकत रही तो एक रोज दरवाजे की घंटी जलकर रहेगी। सब्र नाम की तो चीज़ ही नहीं है उनमें। सहन में पहुंचकर वापस कमरे की ओर पलटी। निगम को इशारे से समझाया कि बच्चों के कमरे में दाखिल होने से पहले वे उसका गिलास कहीं आड़ में कर दें।

दरवाजे तक पहुंचते-न पहुंचते निगम कमरे से स्वर ऊंचा करके पूछने लगे कि क्या बच्चे इस खुशखबरी से परिचित हैं? "तुम्हें बताये बगैर कैसे बताती?" उसने दरवाजा खोलते हुए तुनककर जवाब दिया। बच्चे भड़भड़ाते भीतर दाखिल हो गये। उसे दो बातों पर गुस्सा हो आया। एक तो बच्चे बहुत बदतमीज हो गये हैं। वह उन्हें दरवाजे पर ही डांटना चाहती थी मगर बगैर उसकी उपस्थिति की परवाह किये वे निर्भीक अंदर धंस लिये। दूसरे, एक पैग अंदर जाते ही निगम हर बात ऊंची आवाज में बोलने लगते हैं जैसे वह बहरी हो।

बच्चे पापा को ड्रिंक पर बैठा देख मचल उठे, "हमारा थम्स अप?"

"मिलेगा ... मिलेगा भई ... साथ प्रेस्ट्री भी। मगर पहले अपनी अम्मा से यह तो पूछो कि आज वे इतनी खुश क्यों हैं?"

बच्चे सप्रश्न उसकी ओर मुड़े। गुस्सा काफूर हो गया। वह लाड़ से उनके सिर बारी-बारी हिलाती हुई बोली, "मेरी कहानी पर दूरदर्शन फिल्म बना रहा है।"

"अच्छा?" दोनों ने खुशी से ताली पीटी। मगर दूसरे ही क्षण गुड़िया ने अपनी बेबाक प्रतिक्रिया दी कि दूरदर्शन फिल्में बहुत बोगस बनती हैं। पिछले दिनों जो 'फुटपाथ के फरिश्ते' दिखाई गयी थी उसे बिलकुल पसंद नहीं आई।

"सुन लिया एक्सपर्टस कमेंट्स?" निगम ने उसे कनखियों से छेड़ते हुए कहा। फिर सांकेतिक ढंग से बोले कि बच्चों के साथ अपने लिये भी 'थम्स अप' ले आये।

उसे भी लगा कि यही उचित होगा। पारिवारिक आनंद का अवसर है। बच्चों को जबरन अपने कमरे में भेजना ठीक नहीं होगा। सामने ले नहीं पाती। 'थम्स अप' ले आयेगी तो निगम बच्चों की नजर बचाकर उसके गिलास की ब्रांडी 'थम्स अप' में उंडेल देंगे।

डेढ़ महीने से निरंतर उसके और विवेक बत्तरा के मध्य 'यही जवाब है' की प्रगति के संदर्भ में पत्र-व्यवहार जारी है। विवेक ने कहानी में कुछ मामूली परिवर्तनों की अनुमति चाही थी और अपने सुझाव भेजे थे कि क्या उन सुझावों से कहानी की मूल धारा को किसी प्रकार की ठेस लगती है?

उसे सुझाव बुरे नहीं लगे थे। इतना अंदाजा तो उसे भी था कि उसने कहानी चाक्षुष की दृष्टि से तो लिखी नहीं थी। अतः फिल्मीकरण के लिहाज से उसमें कुछ परिवर्तन अपरिहार्य हैं और जो सुझाव विवेक ने उसे प्रेषित किये हैं वे निश्चित ही कहानी की बुनावट को नाटकीय गतिशीलता प्रदान करेंगे। उसने जवाब भेज दिया था कि उसे परिवर्तनों पर कोई आपत्ति नहीं है।

विवेक ने यह भी सूचित किया था कि पटकथा लगभग पूरी होने जा रही है और वह अविलंब उसे अमला जी को सौंप देंगे। जहां तक पटकथा का मामला है, अमला जी ने गहरी दिलचस्पी के साथ कई बैठकों में उसे सुना है और कई दृश्यबन्धों को सुनकर बहुत उत्साहित हुई है।

किंतु आज जो पत्र आया है उसमें विवेक ने उसे अगले सप्ताह अपने बंबई आने की सूचना भेजी है। बहुत भावुक होकर लिखा है कि बंबई के एक सुप्रसिद्ध निर्माता ने जो पिछले दिनों अपनी नई फिल्म के प्रीमियर के अवसर पर दिल्ली आये हुए थे, अपने एक वितरक मित्र के साथ अचानक उसका चर्चित नाटक 'घासीराम कोतवाल' देखने 'श्रीराम सेंटर' पहुंच गए। नाटक में वह कोतवाल के रूप में उसके जीवंत अभिनय को देखकर इस कदर अभिभूत हुए कि शो खत्म होते ही सीधा ग्रीनरूम में पहुंच गये और उसे गले से लगाकर निःसंकोच बोले कि क्या वह फिल्मों में काम करना पसंद करेगा?

"बशर्ते भूमिका चुनौतीपूर्ण हो।" उसका उत्तर था।

ठीक हफ्ते भर बाद वह निर्माता की ओर से प्रस्ताव पाकर स्तंभित रह गया जिसमें

उन्होंने लिखा था कि वह फलां-फलां तारीख को स्क्रीन-टेस्ट के लिये बंबई पहुंच जाये। अगर वह 'स्क्रीन-टेस्ट' में उत्तीर्ण हो गया तो निश्चय ही उसकी अगली फिल्म में वह महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाह रहा होगा।

विवेक बहुत खुश है कि उसे इतने बड़े निर्माता की ओर से स्वयंमेव प्रस्ताव प्राप्त हुआ; जबकि उसकी ओर से न कोई जद्दोजहद हुई, न तिया-पांचा, न प्रयोजनात्मक घेरा-घेरी। वही उसके रंगकर्मी मित्र, फिल्म के प्रीमियर या फिल्म को कर मुक्त कराने के उद्देश्य से दिल्ली प्रवास पर आये निर्माता-निर्देशकों की टोह में ही रहते हैं ताकि वे उन्हें अपने नाटकों में आमंत्रित कर उनकी प्रतिभा-पारखी दृष्टि तले अपना सिक्का जमा सकें। मगर अब तक उनके मंसूबे फलीभूत नहीं हो पाये हैं। वह सचमुच भाग्यशाली है कि किस्मत स्वयं उसके भाग्यकपाट पर दस्तक दे रही है। पर इस सब के बावजूद वह चिंताग्रस्त है कि बंबई तो वह किसी प्रकार पहुंच ही जायेगा परन्तु उस मायावी नगरी में आवास की कठिनाई से कैसे निपटेगा। न वहां उसका कोई आत्मीयजन है, न परिचित। वैसे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के कुछ भूतपूर्व छात्र जरूर हैं फिल्म जगत में मगर फिल्मों में प्राप्त अप्रत्याशित सफलता ने उनके दिमाग चढ़ा दिये हैं। उन खुदगर्जों से किसी प्रकार की सहायता की उम्मीद व्यर्थ है। फिर वह स्वाभिमानी भी कम नहीं। रहने का कोई उचित प्रबंध नहीं हो पाया तो वह अवसर खो देना मुनासिब समझेगा बनिस्पत उनके दरवाजे खटखटाने के।

दरअसल उनकी मानसिकता द्वेषी, स्वार्थी, व्यक्तिवादी हो गयी है। वे नहीं चाहते कि फिल्मों में उनके मुकाबले अन्य छात्र भी सफल हों। ये वे लोग हैं जो रंगमंच के प्रति प्रतिबद्ध होने का दंभ भरते थे और फिल्मों में जाने तक यह वक्तव्य पीटते रहे कि अगर वे फिल्मों में गये तो मंच और फिल्मों के बीच संतुलन बनाये रखना उनका मुख्य उद्देश्य होगा। इस परिप्रेक्ष्य में वे लोग कितने बेपर्द हो चुके हैं, वह अनभिज्ञ नहीं होगी। अब तो किसी नाटक में बतौर दर्शक अपनी उपस्थिति ही उन्हें रंगकर्म में बहुत बड़ा योगदान प्रतीत होती है। खैर, उसे क्या। उनकी वे जानें। उसे तो मात्र हफ्ते भर के लिए रात गुजारने की खातिर एक खाट भर की जगह चाहिए। दिन तो स्टूडियो की खाक छानते व्यतीत होगा। सोचता है कि जब 'स्क्रीन टेस्ट' देने आयेगा ही तो क्यों न कुछ दिग्गज निर्माता-निर्देशकों से भी भेंट का सुयोग प्राप्त कर ले?

लेकिन यह सब तो बाद की बात है। पहले तो उसे आवास की समस्या से जूझना है। अड़चनें कई हैं। जिस प्रतिबद्धता से वह मंच से जुड़ा रहा है, वहां अर्थोपार्जन की बात तो दूर, कई दफे तो नाटक के मंचन की खातिर 'श्रीराम सेंटर' का किराया भरने के लिए भी दोस्तों के चंदे पर निर्भर करना पड़ता है। फिर वह किसी सामान्य-से होटल में भी जिसका कि किराया पचास-साठ रुपये प्रतिदिन से कम क्या होगा, कैसे रहने की सोच सकता है। इस वक्त दिमाग सिर्फ परेशान है, सिर्फ परेशान। कुछ सुझाई नहीं दे रहा। पता नहीं क्या

सोचकर उसे इतना सब लिख गया है। शायद यही सोचकर कि एक संवेदनशील रचनाकार का मन किसी रंगकर्मी के संघर्ष की त्रासदी महसूस कर सकेगा ... कृपया वह उसकी अनपक्षित चेष्टा को अन्यथा न लें ...

इस लंबे खत से गुजरते हुए वह गहरे सोच में डूब गयी।

विवेक बत्तरा निस्संदेह भाग्यशाली है कि अनायास भाग्य-लक्ष्मी उसके कैरियर के बंद कपाटों पर दस्तक देने स्वयं उस तक चलकर आयी है। अड़चनें भी अपनी जगह हैं। हिंदी रंगमंच को अभी अपने पांवों पर खड़ा होना बाकी है। विवेक जैसे संघर्षशील युवक उसे आत्म-सक्षम बनाने के लिए कृत-संकल्प हैं। वह पूरी ईमानदारी से उसकी मदद करना चाहती है, पर कैसे? निगम से परामर्श कर ले। शायद उन्हें किसी सस्ते-से होटल की जानकारी हो जहां विवेक के हफ्ते भर रहने का प्रबंध हो जाये? या कोई गेस्ट हाउस ही हो जहां उसे कुछ दिनों के लिए बिस्तर मिल जाये? खाना तो वह किसी सस्ते-से उडुपी में भी खा सकता है। साढ़े तीन-चार रुपये में आराम से थाली मिल जायेगी।

शाम को उसने निगम के समक्ष विवेक की समस्या रख दी। पर उन्हें विशेष दिलचस्पी न दिखाते पा तुनक उठी कि अगर उन्हें किसी सस्ते-से होटल की जानकारी नहीं है तो क्या वे अपने किसी कुंवारे दोस्त के साथ कुछ दिनों उसे नहीं टिका सकते? निगम सुनकर बिगड़ उठे—"कैसी वाहियात बातें कर रही हो! तुम समझती नहीं ऐसे मसलों को। एक बार हमने उनके प्रति जिम्मेदारी दिखा दी तो मुसीबत हमेशा के लिए गले पड़ जाएगी। वे आ रहे हैं, उनके लिए होटल ढूंढो साहब। उन्हें जाना है, टिकट आरक्षित करवा दो। इसे सूचना दे दो, उसे खबर कर दो। सारे काम-धाम छोड़कर यही करते रहो। छोड़ो ये पचड़े। उनकी मुसीबत है, वे झेलें। समझीं?"

उसे निगम बेहद स्वार्थी, संकीर्ण और अपने प्रति ईर्ष्यालु लगे। बोले बिना नहीं रह पाई—"तुम सुविधा-भोगी इंजीनियर हो न। तुम्हारे पास रचनाकार का संवेदनशील हृदय कहां कि जो दूसरों की परेशानी और पीड़ा को महसूस कर सके। आखिर विवेक बत्तरा हमारा क्या लगता है जो मेरी कहानी पर फिल्म बना रहा है। जरूरी था कि मेरी कहानी पर ही फिल्म बनाये? कहानियों का अकाल तो नहीं पड़ा है?"

"बेवकूफी भरे तर्क मत दो। कहानी उसने स्वयं चुनी। तुम उसके पास दौड़ी नहीं गयी थीं!"

"माना कि कहानी उसने स्वयं चुनी है किंतु फिर भी यह मामूली बात तो नहीं? मेरे लेखन कैरियर में यह कितना बड़ा प्लस प्वाइंट होगा, यह सोच पा रहे हो तुम! और आज अगर वह मेरी कहानी दूरदर्शन पर प्रस्तावित कर सकता है तो भविष्य में अगर वह फिल्मों में सफल हो गया तो निर्माता-निर्देशकों को मेरा नाम सुझा सकता है।"

निगम हठात् कलह से सावधान हुए सारी गंभीरता और खिन्नता झाड़कर हंस

पड़े—"माय गॉड, तुम तो बड़ी दूरदर्शी हो गयी हो?" फिर हथियार डालने वाले अंदाज में बोले, "ठीक है, देखता हूं क्या हो सकता है।"

वह भी मुलायम पड़ी—"देखता हूं नहीं, करता हूं कहो।"

"जो आदेश, हुजूर!" उन्होंने बैठे-बैठे शरारत से गर्दन नीचे झुकाई।

वह आश्वस्त हो रसोई में व्यस्त हो गयी। हाथ चलते रहे पर दिमाग उधेड़बुन में पड़ा रहा। निगम समझ नहीं पा रहे। बात की गहराई में नहीं जा रहे। कितनी ईर्ष्या होती है उसे जब वह दूरदर्शन पर अपने समकालीन लेखक-लेखिका की कमजोर-सी कहानी का नाट्य रूपांतरण देखती है या सूचना पढ़ती है कि फलां लेखक की फलां कहानी पर फिल्म बन रही है। खूब सोचती है कि भला ऐसा क्या है उस कहानी में? ऐसी तो उसने बीसियों कहानी लिखकर पटक दी हैं। पर सच्चाई तो यह है कि नाटक हो या सिनेमा, इन जगहों में तब तक बात नहीं जमती जब तक वहां अपने लोग बढ़ावा देने वाले न हों। विवेक इस दिशा में बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उसके छद्म लेखकीय स्वाभिमान की रक्षा कर सकता है। उसके बंबई आने पर वह अपनी कुछेक वे कहानियां पढ़वायेगी जिन पर बेहतर नाटक की संभावना तो है ही, सफल भावना-प्रधान कला फिल्में भी बन सकती हैं। मगर यह तभी संभव है जब उनके दरम्यान संबंध बनें और संबंध एक-दूसरे की जरूरत पर खड़े होने से ही अंतरंग हो सकते हैं। उसकी सफलता भी संदिग्ध नहीं है। गत वर्षों में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के जो भी छात्र फिल्मों में आए हैं, रातों-रात सफलता की चोटी पर जा बैठे हैं। विवेक बत्तरा का भी वक्त होगा।

फिर इतनी झिक-झिक में क्यों पड़ी है? क्यों नहीं उसे अपने ही यहां टिका लेती? पर ... पर-वर कुछ नहीं। इन्हीं 'पर-वर' के चक्करों में अच्छे-खासे हाथ आये सुअवसर छटक जाते हैं। फिर बिसूरती बैठती है कि फलां लेखक का यह हो रहा है, वह हो रहा है और वह वहीं की वहीं पड़ी हुई है। ...

कल ही विवेक को खत लिखती है कि जब वह बंबई में है तो उसे किस की चिंता? जब चाहे निःसंकोच घर चला आये।

वसंत पंचमी की तारीख हफ्तों उसके घर टिकी रही।

विवेक हफ्ते भर के लिए आया था, मगर तकरीबन महीने भर तक उनके साथ रहा। हर दूसरे-तीसरे रोज कहानी पर उनकी बैठक होती। कहानी के कुछ अंश वह पात्रों में गहरे डूबकर इस हाव-भाव के साथ सुनाता कि उसकी आंख के समक्ष दूरदर्शन का पर्दा खिंच जाता और पर्दे पर गतिमान दृश्य। उन दृश्यों से जुड़ी दर्शकों की भाव-विभोर अपार भीड़! बधाइयों की चिट्ठियों का बढ़ता अम्बार कि आपकी कहानी पर बनी फिल्म देखी, पारुल जी ...।

उसके रहते घर का वातावरण इतना रचनात्मक हो उठा था कि उसे लगने लगा था कि वह अपने आप को मात्र कहानियों और नृत्य तक ही सीमित न रखे। नाटक विधा पर

भी काम करे। उसमें सामर्थ्य है। उसके पास जबरदस्त दृश्यीकरण की क्षमता है जो नाट्य लेखन एवं फिल्म लेखन के लिए विशेष महत्त्व रखती है। हिंदी में तो अच्छे नाटकों का अभाव ही है। यूं तो नाटक प्रसाद ने भी लिखे, सेठ गोविंददास ने भी लिखे पर वे मंच के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं। इधर हिंदी के कुछ शीर्षस्थ कथाकारों ने इस दिशा में संयुक्त प्रयास आरंभ किया है। नाटककारों के साथ बैठकर मंच की तकनीकी जानकारी से भिज्ञ हो नाटक लिखने की। परिणाम उत्साहवर्धक है। मन्नू भंडारी के 'महाभोज' के विषय में उसने सुना ही होगा। विवेक ने जैसे उसके सामने चुनौती रखकर कहा—"बताइये, आपके लिए कोई मुश्किल है?"

"है।" उसने अपनी लाचारी प्रकट की कि चूंकि वह बंबई में रह रही है जहां मराठी मंच जितना समृद्ध है, हिंदी उतना ही अविकसित। उसे ऐसा सुअवसर प्राप्त होने से रहा।

"मैं आपकी मदद करूंगा।"

उसकी आंखों में प्रश्न खिंच आये, "कैसे?"

"आप पहले नाटक का कोई समस्यामूलक विषय चुन लीजिए। फिर उस पर काम शुरू कर दीजिए। संभवतः महीने-डेढ़ महीने बाद मेरा पुनः आना होगा, तब हम लोग विषय पर आठ-दस बैठकें कर डालेंगे। ठीक?"

"ठीक!" उसने सोत्साह खिलकर कहा।

जादू का-सा असर हुआ उस पर कि उसने अपने नये उपन्यास पर बैठना कम करके एकाएक नाटक पर काम शुरू कर दिया। पंद्रह दिन में एक साधारण रूपरेखा तैयार हो गयी। निगम को पढ़कर सुनाया तो प्रतिक्रिया में उन्होंने आड़े हाथों लिया—"मैं विषय से सहमत नहीं हूं। शोषण की बात उठाना आम फैशन हो गया है लेखकों में। मध्यमवर्गीय संपन्नता में हाथ धोने की ख्वाहिश रखते हुए सर्वहारा वर्ग की खोखली चिंता? तुम मध्यम वर्गीय पाखंडों को अपना विषय क्यों नहीं बनातीं? कम कहने के लिए है वहां? हां, मगर साहित्य में आजकल वह फैशन में नहीं है, यह और बात है। बहरहाल मुझे नहीं जम रहा मामला।"

वह उनकी दो-टूक प्रतिक्रिया से आहत हो आयी—"तुम पूर्वाग्रह से भरकर बात कर रहे हो।"

वे गुर्राये, "मैंने वही कहा जो मुझे लगा। सच्चाई सुनकर तिलमिलाहट होती है तो मुझसे पूछती क्यों हो?"

"पूछने का तात्पर्य यह नहीं है कि तुम मेरी नीयत पर आक्षेप लगाओ?"

"ठीक। तो फिर समझ लो कि मुझमें नाटक की समझ नहीं। बेहतर होगा कि अपने गुरु विवेक को प्रतिलिपि भेजकर उसका मत जान लो।"

"जलो-भुनो"! वह मन ही मन तैश से ऐंठी। यह कोई जवाब है? मगर तर्क-वितर्क व्यर्थ है। निगम का खूंटा जहां गड़ जाता है, टस से मस नहीं होता। असहमति के बावजूद उसे उनका यह परामर्श पसंद आया कि वह प्रतिलिपि प्रतिक्रिया-हेतु विवेक को भेज दे। इधर वह उसे खत लिखना भी चाह रही थी। उसे वापस लौटे महीना भर से ऊपर हो रहा है। उसने कहा था कि वह शीघ्र ही उसे विस्तृत खत लिखेगा। किंतु अब तक उसका न कोई खत आया, न दूरदर्शन से अनुबंध पत्र कि जिसके विषय में वह आश्वस्त करके गया था कि पहुंचते ही वह अविलंब भिजवायेगा। संकोच के बावजूद पारिश्रमिक की जिज्ञासा वह दबा नहीं पाई थी। विवेक का अनुमान था कि कहानी के तकरीबन साढ़े तीन सौ तक एवं दो-तीन स्टेशनों के प्रदर्शन के अधिकार की रायल्टी मिलाकर उसे सात-आठ सौ रुपये प्राप्त हो ही जायेंगे।

"बस?" उसे सुनकर अचंभा हुआ था। पर तुरंत उसने स्वयं को समझाया था कि बात पैसे की नहीं है, प्रतिष्ठा की है। बड़ा रौब पड़ता है दूरदर्शन का। वह तुरंत विवेक को खत लिखने बैठ गयी कि क्या वजह है उसके दीर्घ मौन की? क्यों उसे अब तक दूरदर्शन से अनुबंध पत्र प्राप्त नहीं हुआ? जो भी स्थिति है उसे तुरंत लिखें। साथ ही नाटक की टंकित रूपरेखा प्रेषित है। उसके सुझावों के बाद ही वह पाण्डुलिपि पर गंभीरता से बैठेगी।

जवाब आने में ज्यादा समय नहीं लगा। पत्र क्या था—परेशानी, दुख, क्षोभ, संकोच और शरमिन्दगी का पुलिंदा। कि उसके सारे परिश्रम पर पानी फिर गया है। दूरदर्शन के अधिकारियों ने फिल्म की स्क्रिप्ट अस्वीकार कर दी है। उनका तर्क है कि कहानी के केंद्रीय चरित्र मां का आचरण अत्यंत व्यावसायिक है, जो मां की हमारी पारंपरिक छवि को ठेस पहुंचाता है। हमने उन्हें संतुष्ट करने की बहुत कोशिश की मगर वे अपनी लचर दलीलों से चिपके बैठे हैं। निर्देशिका अमला जी भी बेहद दुखी हैं। कम वक्त नहीं जाया किया उन्होंने हमारे साथ। घंटों संग बैठी एक-एक दृश्य सुनती रही हैं।

... बहुत अरसे से आपको लिखने की सोच रहा था लेकिन आप मेरी मनःस्थिति का अंदाजा लगा सकती हैं। क्षमा-याचना के लिए भी तो आदमी को हिम्मत चाहिए।

पत्र के साथ नाटक पर विस्तृत प्रतिक्रिया भी नत्थी थी। किन्तु उसे पढ़ने की इच्छा ही नहीं हुई। दूरदर्शन के अधिकारियों पर रोष उबल पड़ा। टुच्चे और कमअक्ल लोग! वातानुकूलित कमरों में बैठे हुए उन्हें साहित्य की समझ है? मशीनीकरण के इस युग में निःस्वार्थ रिश्ते के मध्य तेजी से व्यापते व्यवसायीकरण का एहसास है? औरत का मानसिक धरातल जिस संक्रमणता से क्षत-विक्षत हो अपने अस्तित्व की पहचान के लिए संघर्षरत है, इसकी जानकारी उन्हें है?

वह उन्हें नहीं छोड़ेगी। मगर लिखे तो कहां और किसे? सहसा एक सूत्र हाथ आया। बंबई दूरदर्शन से उसे दिल्ली दूरदर्शन का पता आसानी से प्राप्त हो सकता है।

आक्रोश से थर्राती उंगलियां टेलीफोन पर नंबर घुमाने लगीं। उधर से 'हलो' होते ही अपनी उत्तेजना को भरसक संयत कर उसने दिल्ली दूरदर्शन का पता मांगा। पता प्राप्त कर तुरंत अपनी मेज पर जा बैठी और अपनी कहानी 'यही जवाब है' का हवाला देते हुए अधिकारियों की दुर्नीति और अविवेकपूर्ण निर्णय को चुनौती देती लिखने लगी कि जिन वजहों से उन्होंने उसकी कहानी पर नैतिक आपत्ति प्रकट की है वह उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति और छिछले दृष्टिकोण का परिचायक है। मनोविश्लेषणात्मक चरित्रों को समझ सकने की न तो उनमें दृष्टि है, न उदारता। क्यों वे वक्त के परिवर्तनों को स्वीकार नहीं कर पा रहे? औरत की कैसी छवि वे दूरदर्शन पर दिखाना चाह रहे हैं? वे मातृत्व संबंधों पर हावी हो रही अर्थ-लोलुपता को दिखाना पारंपरिक मर्यादा के खिलाफ कदम मानते हैं पर आये दिन जो वे स्त्री देह की नुमाइश से भरपूर विज्ञापनों को प्रदर्शित करते रहते हैं क्या उससे नारी की पारंपरिक उदात्त छवि को सम्मान प्राप्त होता है? उसने उनसे स्पष्टीकरण मांगा कि जब अमला भटनागर की सहमति और स्वीकृति से काम शुरू हुआ था तो फिर क्योंकर उसकी कहानी अस्वीकृत की गयी? दूरदर्शन अधिकारी जवाब दें। यह उनका नैतिक कर्तव्य है ...

उसे कतई उम्मीद नहीं थी कि उसकी भर्त्सनापूर्ण प्रतिक्रिया का कोई उत्तर आयेगा लेकिन जवाब उसके हाथों में है और वह निगम को पढ़कर सुना रही है—अपने को अविश्वसनीय और भौंचक स्थिति से घिरता हुआ महसूस करने के बावजूद ...

शायद उसकी शिकायत जवाबदेही के लिए अमला भटनागर को भेज दी गयी थी; क्योंकि प्रत्युत्तर अमला जी का आया है। अमलाजी ने साश्चर्य उसके आरोपों का खंडन किया है और सारे प्रकरण से स्वयं को ही नहीं, अधिकारियों को भी अनभिज्ञ बताया है। यह अवश्य स्वीकारा है कि विवेक बत्तरा से वे परिचित हैं और अक्सर उसे अपने नाटकों में 'बुक' करती रहती हैं। परंतु न तो विवेक ने उनसे कभी उसकी किसी कहानी का जिक्र किया न उसे दूरदर्शन के लिए किसी फिल्म का अनुबंध सौंपा गया है। वे अनुमान नहीं लगा पा रहीं कि वह कैसे ऐसे अनर्गल भ्रम का शिकार हुई कि ... खैर, अब उनका अनुरोध है कि वह अपनी कोई विशेष रचना दूरदर्शन पर नाट्य रूपान्तर के लिए अवश्य भेजें। कहानी पसंद आने पर वे उस पर काम करना चाहेंगी ..."

पत्र खत्म कर उसने क्षुब्ध दृष्टि से निगम को देखा। "विवेक बत्तरा ने ऐसा क्यों किया ...?"

प्रत्युत्तर में निगम कटाक्ष भरा ठहाका भर हंस पड़े। हंसी शुरू हुई तो फिर बढ़ती ही चली गयी।

वह खिसियाहट से भरी-भरी रुष्ट हो आयी—"उपहास उड़ा रहे हो?"

"उपहास? और मैं?" उन्होंने सप्रयास हंसी को नियंत्रित करने की चेष्टा की और

बोले—"भई, मैं तो कुछ और ही सोच रहा था ..."

उसने उत्सुक नजरों से उन्हें देखा।

"अब देखो न, तुम रहती हो बंबई में। देश की मायावी नगरी में। और जब भी किसी को इस शहर में अपनी पटरी साधनी होगी या किसी डेरे की तलाश, बंदा तुरंत तुम्हारी कहानी पर नाटक लिखने लगेगा या फिल्म बनवाने लगेगा या चित्रांकन करने लगेगा, या रूसी या फ्रेंच में उसके अनुवाद की अनुमति चाहेगा। तुम खुश और ऐसे में वह इस शहर में आना चाहेगा तो भला तुम उसे बाहर कैसे रहने दे सकती हो? क्यों? □

कुट्टन का पद-त्याग

पम्मन

पम्मन का वास्तविक नाम है आर.पी. परमेश्वर मेनन। इंजीनियरिंग की शिक्षा पूरी करके नौसेना तथा आर्डिनेंस फैक्टरी में नौकरी करने के उपरांत पश्चिम रेलवे में वरिष्ठ मकेनिकल इंजीनियर के पद पर कार्य किया।

पम्मन की कथाएं सामाजिक समस्याओं, जीवन के अभावों, जटिलताओं पर आधारित हैं। पात्र-सृष्टि में उनका आदर्शवाद झलकता है। डॉ. एन.पी. कुट्टन पिल्लै द्वारा अनूदित इस कहानी में जीवन के परिचित संदर्भ को रोचक शैली में अभिव्यक्त किया गया है।

मेरी पहले से यह मान्यता रही है कि कुत्ता और पत्नी देशी ही ठीक हैं। देशी कुत्ते से क्या शिकायत हो सकती है? जूठन जो भी दें, दुम हिलाते हुए खुशी से खा लेता। गत रात की कंजी, बचा-खुचा दोसा कुछ भी दें, बिना मुंह फुलाये खा लेता। धूप लगने से खुजली का शिकार नहीं होता, पानी में भीगने से जुकाम नहीं आता, थोड़ा ज्यादा खाने से पेट में दर्द नहीं होता। गले में पट्टा बांधने की ताक में नौकर को पीछे नहीं पड़ना पड़ता। इसके अतिरिक्त जिस उद्देश्य से वह पाला जा रहा है, वह पूरा भी कर लेता। जहां भौंकना है भौंकता और जहां काटना है काटता। कुछ भी न सही, खिलानेवाले के प्रति वफादार तो रहता ही है।

स्त्रियों के गुण-अवगुण के संबंध में थोड़ा-बहुत परिचित हो जाने पर भी यह इच्छा बनी कि किसी देशी लड़की से ही ब्याह करूं। लेकिन चाहने भर से क्या होता? हुआ उल्टा

ही। एक प्रकार का कुत्ता होता है जो न देशी है, न विलायती ही। 'क्रोस-क्रीड' उसका नाम है। मुझे मिली थी इसी जाति की एक—कुत्ते की नहीं, पत्नी की बात कर रहा हूं। क्या बिलकुल देशी है? वह नहीं, तो क्या 'अल्ट्रा मॉडर्न' है? वह भी नहीं। दोनों के बीच की। यह रहने दीजिए।

एक दिन लगभग पांच बजे का समय था। मैं बरामदे में आरामकुर्सी पर पड़ा कुछ पढ़ रहा था। "तब तो ..." पीछे से कोई कलरव। मैंने मुड़कर देखा—श्रीमती जी थीं।

"ऊ, क्या हुआ?" मैंने पूछा।

"हमें ले जाने के लिए एक लड़का मिल गया है।"

"क्या लड़का? कौन लड़का?" मैंने प्रश्न किया।

"कभी बोली थी न?" मेरी कुर्सी से चिपककर श्रीमती ने कहा—"हमें साथ ले जाने के वास्ते एक लड़के का प्रबंध हो गया है।"

"ओह, वही, ठीक है। कहां है? ज़रा देखूं।" मैंने आग्रह किया।

"कुट्टन, ओ कुट्टन! ज़रा बाहर आओ न।" श्रीमती जी ने ज़ोर से पुकारा। मेरे साम्यवादी होने के कारण नहीं, नहीं तो भी समूची मनुष्य जाति के प्रति प्रेम, दीनों के प्रति सहानुभूति और बेबसों के प्रति सहताप मेरे मन में पहले से है। फिर भी अकस्मात् कुट्टन के दर्शन पर मेरे मन में ऐसा कुछ नहीं हुआ। काला-कलूटा, गंदा लड़का। स्नान किये महीनों गुजर गये होंगे। समस्त शरीर खुजलियों से भरा हुआ, बिखरे हुए बाल और बीड़ी पीने से काले पड़े हुए अधर। कुल मिलाकर मुझे बीभत्स-सा लगा।

"इस लड़के के बिना काम नहीं चल सकता?" अपनी राय प्रकट करने की अपेक्षा एक याचना भरे स्वर में मैंने पूछा।

"यह क्या? फिर घर के सारे काम कौन देखेगा? सुबह-शाम रसोई में चक्कर खाने की मुझमें सामर्थ्य नहीं।" श्रीमती जी ने मुंह फुला दिया, "दौड़-धूप के बाद एक लड़का ढूंढ लायी, तो पूछते हैं—लड़का किसलिए? समय पर भोजन करके सिगरेट का धुआँ उड़ाने वालों को ऐसा सूझेगा ही। कष्ट उठाना पड़ता है औरों को ... ।"

ज्यादा क्या कहूं। पूर्ववत् इस बार भी पत्नी जीत गयी। बाल कटवाकर, स्नान करवाकर, निकर पहनाकर और पेट भर खिलाकर उसे हम इधर अपने साथ ले आये। मेरी नौकरी की जगह। वह सकपका गया। पहली बार अपना गांव छोड़कर आया था। रेलगाड़ी में सफर करते समय वह घड़ी-घड़ी पाखाना जाता। उसे इस प्रकार कई बार जाते देखकर मेरी श्रीमतीजी ने धीरे से मुझसे कहा—"लड़के के पेट में क्या गड़बड़ है, पता नहीं।"

"बीड़ी पीने जा रहा है।" मैंने समझाया।

"बीड़ी पीने? यह छोकरा?" श्रीमतीजी को विश्वास नहीं हुआ।

"इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है?" मैंने पूछा, "उसकी उम्र में मैं भी पीता था।

अन्तर इतना था कि बीड़ी की जगह मैं सिगरेट के टुकड़े फेंका करता था।"

"वहां पहुंचने दो, मैं उसे बीड़ी पीने दूंगी।" लड़के के सुनने लायक उच्च स्वर में वे बोलीं।

नौकरी की जगह पहुंचे महीने भर के अंदर ही कुट्टन के रूप-रंग सब कुछ बदल गये। बिखरे पड़े बालों को कंघी चलाकर साफ-सुथरा बनाये रखने लगा। खुजलियों से भरे शरीर में रक्त-संचार के स्पष्ट चिह्न दिखाई देने लगे। बीड़ी पीने से काले पड़े अधरों का फीकापन ज़रा कम होने लगा। खाकी निकर तथा 'आर्मलेस' बनियान पहने कुट्टन किसी अच्छे-खासे परिवार का बालक दिखने लगा।

एक दिन एकान्त में श्रीमती जी ने मुझसे कहा—"लड़का जैसा हमने सोचा, वैसा नहीं। होशियार है। कुछ भी समझाना नहीं पड़ता। सब कुछ अपने आप कर लेता है।"

मुझे सुनकर खुशी हुई। कपड़े, रेल का किराया आदि जो दिये, व्यर्थ नहीं गये ...।"

वह एक शनिवार था। मेरे लिए छुट्टी का दिन। अचानक कोई कोलाहल सुनकर मेरी नींद उचट गयी। धूप निकल आयी थी। रसोईघर के भीतर से कोलाहल आ रहा था। श्रीमती जी के 'लाउडस्पीकर' से डाँट-फटकार का साहित्य मूसलधार वर्षा के समान बह निकल रहा था। मैं कान लगाये सुन रहा था। कुट्टन के विलंब से उठने की शिकायत थी। पटेल के यहां से अभी दूध नहीं लाया गया था। सवेरे ही गोश्त ले आने को बोल रखा था। वह भी नहीं हुआ था। अधिक क्यों, श्रीमती में कलि नाच रही थी। पलनी (एक तीर्थस्थान का नाम) जाने के लिए कावड़ी उठाये हुए के समान। पर श्रीमती जी कितना भी नाचे, कुट्टन अचंचल था। वह ज़मीन पर दृष्टि गड़ाये निर्विकार खड़ा था।

"इन कुत्तों को खाना खिलानेवालों की गलती है। ससुरे की नींद।" श्रीमती जी मणि प्रवाल शैली में निर्बाध बोलती जा रही थीं, "अब आगे इधर न नौकर की जरूरत है, न नौकरानी की। जाओ, जहां तुम्हारी इच्छा हो। किसी कुत्ते को खाना खिलाया होता, वफादार होता।"

फिर भी कुट्टन निर्विकार था। वह मौन खड़ा था। यह देखकर श्रीमती का तेवर चढ़ रहा था। "क्यों रे, फांसी के तख्ते के जैसे क्यों खड़ा है? तुझसे बाहर निकल जाने को कहती हूं। निर्लज्ज!"—अत्यन्त क्रोध से काँपती श्रीमती जी की पुकार उठी।

"मेरा वेतन दे दीजिए, मैं चला जाऊंगा।"

आखिर कुट्टन की वाणी बाहर सुनाई पड़ी। उसके साथ ही बारूद को आग लग गयी। झटपट अलमारी खोली और झटपट लौट आयीं। "यह ले तेरा वेतन। ले जा। नमकहराम!" रुपये उसकी तरफ फेंकती हुई वह चीख उठीं। नीचे बिखर गये रुपये के नोटों को उठा कर और छाती फैलाये वह चुपचाप बाहर निकल गया। यह सब देखकर भी मैं अनजान बनकर शय्या पर पड़ा रहा। उसका लाया लड़का, उसके लिए लाया लड़का। कुछ

भी होने दो। मैं मौन रहा।

लगभग दस मिनट के बाद 'शेड' में पड़ी रेलगाड़ी के इंजन की तरह भाप और धुएं वमित करती हुई श्रीमती जी मेरे पास आयीं।

"चाय तैयार हुई?" बिलकुल अनजान बनकर मैंने पूछा।

"कुट्टन को मैंने निकाल दिया।"

"कहां?"

"कहीं जाकर मरने दो। यहां उसकी ज़रूरत नहीं।"

"अच्छा ही किया, खूब अच्छा किया।" मैंने कहा—"अब दोनों ज़रा शान्ति से रह सकेंगे।"

वे चुप रह गयीं।

कुछ क्षण बीत गये। मैंने ही मौन भंग करके पूछा—"बलि के लिए छोड़ रखी मुर्गी के जैसी चुप क्यों बैठी हो? सबेरे चाय का कुछ प्रबंध है?"

"चीनी नहीं।" उन्होंने कहा।

"तो उस लड़के को भेजने के पहले उससे चीनी मंगायी नहीं जा सकती थी?"

"एक दिन चाय न पीने से कोई मर तो नहीं जाता।" उनका कथन था।

अब बोलना बेकार था। तुरन्त कपड़े बदलकर दूकान जाकर एक किलो चीनी खरीद लाया।

"यह लो चीनी। अब तो चाय बनेगी न?" मैंने पूछा।

चीनी लेकर मस्तानी चाल से वे रसोई की ओर चलीं, दातून करने मैं स्नानागार की तरफ चला। दातून करके आया तो चाय तैयार थी। जल्दी ही उठाकर उसे होंठों से लगाया।

"क्या है यह? चाय है या आलप्पुषा पायस?" घबराकर मुंह खोले खड़ी श्रीमती जी से मैंने पूछा।

"क्या हुआ?" उन्होंने जानना चाहा।

"तुम ज़रा पीकर देखो न? इसमें चीनी को छोड़कर कुछ और भी है?"

"यह मेरी रुचि के अनुसार बनी है। जिसे अपनी रुचि का ख़्याल है तो ख़ुद बनाकर पी लेना।" फुसफुसाती हुई वे रसोई की ओर चली गयीं। कुछ भी हो, फिर दो प्याला चाय बनाकर एक मुझे दिया और दूसरा प्याला छिपे-छिपे खुद पी लिया। पहले बनी चाय वृक्ष की जड़ में फेंक दी। उस दिन का चाय पीने का क्रम पूरा हुआ।

चाय को कुछ विलंब हुआ तो क्या हुआ, क्या ही शांत वातावरण था। झगड़ा नहीं, कोलाहल नहीं, मुझे भी लगा—लड़के को निकाल देकर अच्छा किया। कई दिनों बाद एक छुट्टी का दिन शांति का मिला। एक अच्छी पुस्तक उठाये बरामदे पर पड़ी आरामकुर्सी में जा गिरा। और दोपहर का भोजन तैयार करने श्रीमती जी रसोई में चली गयीं।

बार-बार श्रीमती जी छींकती-खांसती और नाक पोंछती हुई बरामदे में आती-जाती रहीं। चूल्हा जलाने की कठिनाई से होगी। कुछ भी न देखने का बहाना करता हुआ मैं पुस्तक पढ़ता गया। अनजाने ही कुछ पूछूं तो फिर कयामत आ जाती, उस 'लाउडस्पीकर' से मणिप्रवाल शैली की कविता की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगती। रविवार के दिन उन सब से बचे रहने में ही तो खैरियत है न!

किन्तु वह शान्ति और चैन अधिक देर नहीं रही। तुरन्त ही भीतर से छींकने तथा किसी को लक्ष्य करके ज़ोरदार गालियां बकने की कठोर ध्वनि सुनाई दी। मैं बिजली-वेग से अंदर पहुंचा। श्रीमती जी की उंगली कट गयी थी। शायद तरकारी काटने के विचार में थीं। कुछ भी हो, आहत उंगली को ज़ोर से दबाये वे नाच रही थीं।

"क्या हुआ, जी?" पति-सहज स्वाभाविक प्रेम से मेरा प्रश्न उठा।

"घास।" पत्नी-सहज फुसफुस के साथ उन्होंने उत्तर भी दिया।

प्रश्न और उत्तर इस प्रकार तुरन्त समाप्त हुए। मैंने अपनी राह ली। ठेठ मलयालम के कुछ पुराने प्रयोग और शैलियां मेरे पीछे आकर कानों में घुसते जा रहे थे। मैंने अनसुनी कर ली।

लगभग दुपहरी का समय था जब विपत्तियां अपनी चरमसीमा तक पहुंच गयीं। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते मैं आरामकुर्सी पर ही पड़े-पड़े ऊंघ गया। एक चीख-पुकार ने मेरी तंद्रा भंग कर दी। रसोईघर के भीतर कोई भारी विपत्ति आ गयी थी। बन्दूक से निकली गोली-सा मैं तुरंत वहां पहुंचा। एक पैर उठाये दूसरे पैर पर मेरी श्रीमती जी प्रदक्षिणा कर रही थीं। सीधा पैर देखने में ज़रा मज़ा आया। एड़ी ज़रा ऊपर को उठी हुई थी। इसलिए घुटने के नीचे का भाग स्पष्ट दिखाई दे रहा था। बड़ा ही सुन्दर मृदुल पांव! पर दूसरा पांव ज़रा देखते ही बनता था। कटोरा भर उबलता चावल उसी पांव पर गिर पड़ा था। पका हुआ चावल चूल्हे पर से संभवतः निकालने के प्रयत्न में थीं।

कुछ भी हो, एक पांव घुटने तक जलकर सूज गया था। कटोरा भर चावल फर्श पर पड़ा था। तुरन्त ही शीशी भर मिट्टी का तेल उठाकर मैंने उस पांव पर डाल दिया। अब ठहरा नहीं जा सकता था। तुरन्त ही पहले जो तांगा दिखाई पड़ा, उसी में बिठाकर हम डॉक्टर के पास चले गये। यह पहला दिन था जबकि बाहर निकलते हुए श्रीमती जी ने साड़ी बदलने की जिद नहीं पकड़ी थी, बालों का जूड़ा बांधने की चिन्ता नहीं की। साड़ी, ब्लाउज, कानफूल तथा गले की माला के 'मैचिंग' की परवाह नहीं की।

डॉक्टर के पास से लौटते-लौटते दो बज गये। भूख ज़ोरों पर थी। सबेरे की एक प्याली चाय के बल-भरोसे पर खड़ा था। आते ही श्रीमती जी बिस्तर पर जा गिरीं।

रोगिणी एक तरफ और दूसरी तरफ ज़ोरों की भूख। सब के ऊपर थी भविष्य की चिन्ता।

शाम होते-होते हम दोनों अलस और शिथिल थे। जब कोई चारा न था, तब दूकान

से एक डबलरोटी ले आया। दोनों ने आधा-आधा दूध में भिगोकर खा लिया। अब तक किसी के मुंह से कुट्टन के संबंध में एक शब्द तक नहीं निकला। उसने सबेरे की गाड़ी में गांव की राह ली होगी। भगवान उसका भला करे। ...

अंधेरा छा रहा था। भूख असह्य हो उठी। घर में झाड़ू नहीं दी गयी थी। बरामदे में तथा कमरों में धूल-कचड़े भरे हुए थे। जब कुट्टन था तब संध्या तक झाड़ू न चला पाने पर प्रलय मच जाता था। पौधे सब पानी न मिलने से मुरझा कर दीर्घ श्वास भर रहे थे। धोने के कपड़े सब पानी में भिगो कर रखे हुए थे। बर्तन सब बिना साफ किये ढेर पड़े थे। गिर पड़े चावल और कटोरा ज्यों के त्यों पड़े थे। नहाने के लिए पानी तैयार नहीं था। धोबी के पास से धुले कपड़े ले आने थे। तभी तो सबेरे दफ्तर जा सकता था। कुट्टन गांव चला गया।

रात में कुछ खाना तो ही है। मैंने श्रीमती जी से पूछा। वे 'वाल्व' निकले रेडियो की तरह अपशब्द करती लेटी हुई थीं। "मुझे कुछ नहीं चाहिए।"उन्होंने कहा।

"पर मुझे तो चाहिए।" मैंने कहा।

मैंने सीधे रसोई की राह पकड़ी। कंजी तैयार करने का विचार था। बड़ी कठिनाई से चूल्हा जलाया। सिर चकराने के कारण सीधा खड़ा रह नहीं पा रहा था। नौ बजने को था। मुश्किल से चूल्हे पर चावल चढ़ाकर श्रीमती जी के समीप बिस्तर पर जा लेट गया। चावल पकने दे।

नींद से जाग उठा तो साढ़े दस का समय था। श्रीमती जी गहरी नींद में सो रही थीं। "अरी, ज़रा उठो, थोड़ी कंजी पीकर सो जाओ।" मैंने श्रीमती जी को हिला-हिला कर बुलाया। आंखें मींचती हुई वे जाग उठीं।

"थोड़ी कंजी पीकर सो जाओ। भूखों रात काटना ठीक नहीं है।" मैंने प्रेमपूर्वक कहा।

वे कुछ नहीं बोलीं। बेचारी बड़ी भूखी होंगी। तुरन्त रसोई में पहुंचकर दो थालियां साफ कीं। फिर कंजी के कटोरे का ढक्कन निकाला ...। कटोरे के भीतर चावल पक-पक कर और पानी में मिलकर उसका कुछ ऐसा रूप बना था कि न कंजी थी, न भात ही। 'अप्पम्' जैसा बना था।

फिर भी भूख के आधिक्य के कारण थोड़ा थाली में परोस लिया, पर बहुत कोशिश करने पर भी वह गले के नीचे न उतर रहा था। थोड़ा निगलने पर वमन होने लगा। इसलिए उसे रसोईघर में रख छोड़कर दरवाजे बंद किये। दीपक बुझाकर बिस्तर पर लेट गया। इतना सब होने पर भी श्रीमती जी के मुख से एक शब्द तक नहीं निकला।

लगभग आधी रात का समय था। करवटें बदलता हुआ सोने का प्रयत्न किया, पर सो नहीं पा रहा था। पेट में चूहे दौड़ रहे थे।

अकस्मात् बाहर किसी की आहट सुनाई दी। धीरे से उठकर खिड़की खोलकर बाहर

झांका। बाहर कोई खड़ा हुआ-सा प्रतीत हुआ।

"कौन?" मैंने पूछा।

"मैं हूं कुट्टन।" एक करुण स्वर।

"क्या हुआ, रे?" मैंने प्रश्न किया। उसने कुछ नहीं कहा, मुख झुकाये खड़ा रहा।

"क्या हुआ, कुट्टन? तू गांव नहीं गया?" मैंने फिर पूछा।

"नहीं साहब, मैं नहीं जा रहा हूं। गलती हुई, माफ करना ..." उसका गला भर्रा उठा।

"माफी-वाफी की क्या पड़ी है? तू अपनी राह ले।" स्वाभिमानपूर्वक मैंने गंभीर स्वर में कहा। वह फूट-फूटकर रोने लगा। "आगे से ठीक् काम करता रहूंगा।" उसने रुक-रुककर कहा।

"तो ठीक, अन्दर आ जा। संभलकर रहोगे तो इधर काम करना।" मैंने सगौरव कहा। पर अंदर ही अंदर खुशी और आश्वासन की बाढ़ उमड़ रही थी। कुट्टन खोकर आया।

"तूने रात का खाना खा लिया?" मैंने पूछा।

"नहीं।" उसने कहा।

"तो कुछ तैयार करके खा के सो जा।"

"ज़रूरत नहीं, साहब।"

"बोले तो बात सुनना। भूखों रात काटने नहीं दूंगा।" मैंने सख्त स्वरों में डांट सुनायी। कुट्टन चुपचाप रसोईघर में चला गया। रसोईघर का हाल देखकर अनजाने ही कुट्टन हंस पड़ा होगा ...

इतना सब होने पर भी श्रीमती जी की नींद नहीं छूटी। किंतु मैं उस पर विश्वास नहीं करता। जागने पर भी शायद झूठा बहाना कर रही होंगी। रहने दो बेचारी को।

आधे घंटे में कुट्टन ने सब कुछ तैयार किया। जूठन भरे गंदे बर्तन सब के सब मांज कर साफ कर लिये। रसोई में झाड़ू चलायी। कंजी और चटनी तैयार की। पेट भर खाकर दरवाजे बन्द किये और सोने चला गया।

तब भी श्रीमती जी सो रही थीं।

एक बजे का समय। सब कहीं सन्नाटा। भारी अंधकार। मैं चुपचाप उठा और सीधे रसोईघर के दरवाजे खोलकर भीतर प्रविष्ट हुआ। दियासलाई जलाकर उसके प्रकाश में कंजी का कटोरा ढूंढ निकाला।

"हे भगवान, हे सर्वशक्त, हे करुणानिधि, भक्तवत्सल!"

बची हुई कंजी उसने संभालकर रख छोड़ी थी। इधर-उधर देखे बिना खड़े-खड़े ही तीन-चार घूंट निगल लीं। क्या स्वाद था उसमें! पहले कभी इतनी स्वादिष्ट कंजी नहीं पी थी। बची हुई पूरी की पूरी कंजी निगल लेने की इच्छा थी, फिर भी थोड़ा-सा अंश शेष रखा, किसी को ज़रूरत पड़े तो। मनुष्य की गति है न, कौन क्या बोल सकता है!

कंजी निगल लेते ही शांति मिली। लगा—अब चाहे कुछ भी हो, होने दो। अंधेरे में इधर-उधर टटोलता हुआ बिस्तर पर आ सीधा लेट गया।

लगभग एक घंटा और बीत गया होगा। पूरा सो नहीं पाया था, तभी देखा श्रीमती जी एक अस्पष्ट दीन स्वर के साथ उठ बैठीं। उठकर गौर से मेरे चेहरे की ओर देखा। मैं आंख मूंदे सोने का बहाना करके लेटा रहा। धीरे-धीरे चुपचाप श्रीमती जी उठीं। सूजन और छालों से भरे पांव से चल नहीं सकती थीं तो भी लंगड़ाती हुई बढ़ रही थीं रसोई की ओर। मैं दम साधे लेटा रहा। श्रीमती जी रसोईघर के भीतर प्रविष्ट हो चुकीं। बर्तन परस्पर टकराने लगे। मैंने कान दिया, तो बैल के पानी पीने की ध्वनि। क्षुधार्त श्रीमती जी कंजी का कटोरा उठाकर उसे निगल रही होंगी। दो मिनट के बाद बिलकुल अनजान होकर पूर्वस्थिति में बिस्तर पर आ लेट गयीं। खिड़कियों से छनकर एक ठंडी हवा पुलक भरने लगी।

"भवानी, सो गयीं?" मैंने धीमे स्वर में पूछा। वह मौन थीं। □

पूर्ण

डॉ. वर्षा दास

व्यक्ति की संपूर्णता किस क्षण उसे स्वयं में संपूर्ण कर लेती है उस क्षण को समेट पाना बहुत कठिन होता है। डॉ. वर्षा दास प्रतिष्ठित कथा लेखिका हैं, नेशनल बुक ट्रस्ट में कार्यरत वर्षा दास ने इस कहानी में कनु की संपूर्ण होने की आकांक्षा के माध्यम से एक विराट बिम्ब चित्रित कर दिया है।

आज जब ऊंची कुर्सी पर बैठे काले कोट वाले जजसाहब ने ऐलान किया कि मैं मुक्त हूं तो मुझे लगा मानो मेरे दोनों कंधों पर पंख निकल आए हों। उसी क्षण उड़ने का मन किया। खुले आसमान में छलांग लगाऊं? मेरे आसपास के असंख्य पेड़ों की चोटी पर बैठ जाऊं? घोंसला कहां बनाऊं? गुलमोहर के पेड़ पर या आम पर? क्या नीम अधिक ठंडा नहीं? या फिर बड़ का भरोसा अधिक है? हरेक की घटा में थोड़ी-थोड़ी देर के लिए बैठ आऊं तो कैसा रहेगा? इससे वहां की सुविधा और सुरक्षा का भी थोड़ा अनुभव हो जाएगा। लेकिन वैसा अनुभव लेने में तो सारा जीवन समाप्त हो जाएगा और घोंसला तो कहीं बन नहीं पाएगा। वैसे घोंसला बनाने की आवश्यकता भी क्या है? क्या जरूरी है कि मेरा अपना ही घोंसला हो, मेरे ही बीने हुए तिनकों से बना हो? क्या मैंने कोई कसम खा रखी है? कितने सारे पक्षियों ने मुझे अपने घोंसले में आकर रहने का निमंत्रण दिया है। वे सारे भी केवल कौवे और चील नहीं हैं। कोई मोर है, तो कोई कबूतर है, कोई गरुड़ है तो कोई तोता है। चुनना मुझे है।

इस समय मैं सहजन की कोमल डाल पर बैठी हूं। सहजन की पूरी देह पर सफेद

फूल फूट आये हैं। सहजन मदमस्त दिख रहा है। उसका नशा मुझे भी चढ़ने लगा। इतने में साथ के नीम से कड़वी हवा की लहर आई। उसकी हलकी थपेड़ ने मेरा नशा उतार दिया। पंख छोटे होने लगे, और भी छोटे हो गये, और फिर गायब ही हो गये।

मैं पक्षी नहीं हूं, एक मानव हूं। केवल मानव नहीं, एक स्त्री हूं। केवल स्त्री नहीं, मैं कनुप्रिया हूं। आंधी ने अभी मुझे मार नहीं गिराया। कई सुइयां चुभने के बावजूद मेरी चमड़ी मोटी नहीं हो गई। अभी भी कांटा चुभने पर खून की बूंद उभर आती है और कनु का चुंबन हवा की लहरों पर तैरता हुआ आकर मुझे छूता है तब गाल लाल हो जाते हैं।

कनु का और मेरा हमेशा का वियोग रहा है। लेकिन जरा कभी तरंगों के वृत्तों के साथ उसका स्वर मेरे कानों में प्रवेश करता है तो मेरा अंग-अंग रोमांचित हो उठता है। उस स्वर के साथ ही उसके स्पर्श का भी अनुभव होता है और मानो नदी बहने लगती है। उच्छृंखल नदी नहीं, धीर गंभीर स्थिर नदी।

कनु का हाथ पकड़कर मैं तिरुमाल पर्वत पर घूम रही थी। उस समय हम दोनों ने अनुभव किया जैसे उछलते-कूदते झरने एक-दूसरे से लिपट गये हों। उन दो झरनों के मिलन से नदी बनने वाली थी। सागर में घर बसाने वाली थी। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। कनु और मैं अलग-अलग पृथ्वी पर रहने लगे। हमारे बीच अनेक प्रकाश-वर्षों का अंतर हो गया। इतना अधिक अंतर कि आज जब पंख निकल आये थे तब एक क्षण के लिए भी मैंने यह नहीं सोचा कि चलो, कनु की पृथ्वी का एक चक्कर लगा आऊं। फिर भी उस प्रेम का अनुभव तो वैसा का वैसा ही है। जैसे एक पल पहले की बात न हो।

जब हम दोनों घसते हुए झरने जैसे थे तब कनु ने कहा था :

"हमारे प्रेम की तीव्र गति तो देखो। दुनिया की कोई भी शक्ति उसके आड़े नहीं आ सकती।"

तब मैंने आशंका से पूछा था : "लेकिन सामने कोई बड़ा पहाड़ आ जाय तो हम क्या करेंगे?"

तो वह बोला था : "तब हम दोनों तरफ से अलग होकर निकल जाएंगे और फिर से एक हो जाएंगे।

हमारे रास्ते में एक बड़ा-सा पहाड़ आया। हम अलग ज़रूर हुए लेकिन फिर से नहीं मिले। पहाड़ की दूसरी ओर जाकर मैं उसकी प्रतीक्षा कर रही थी, पर उसने तो अलग ही राह ली। यह देखकर एक पल के लिए मुझे लगा कि मेरे पैरों के नीचे की धरती खिसक रही है। लेकिन दूसरे ही क्षण आकाश से रिमझिम बरसती बारिश ने मुझे सहलाया, अपने वात्सल्य में भिगो दिया। मुझसे कहा :

"इसी में तुम्हारा भला है और उसका भी। तुम साथ रहे होते तो उस नदी में बाढ़ आ जाती, विनाश हो जाता। अब तुम अकेली-अकेली बहती रहो, और कनु के प्रेम का

स्मरण कर के आनन्द का अनुभव करती रहो। ऐसा प्रेम, ऐसी तृप्ति उसे इस जीवन में दोबारा कभी नहीं मिलेगी। वह दिन-रात अपनी प्रिया को याद करता रहेगा। हां, ऐसा दिखाया जरूर करेगा कि मानो उसके जीवन में प्रिया नाम के किसी व्यक्ति का अस्तित्व कभी था ही नहीं। आडंबर उसके स्वभाव की सबसे बड़ी कमजोरी है, और स्वार्थपरता दूसरी। अच्छा ही हुआ कि तुम्हारा प्रेम द्वेष बन जाय उससे पहले ही तुम दोनों अलग हो गये।"

और बारिश बंद हो गई। मेरे पैरों तले मैंने रेशमी धरती को पाया। मेरा तन-मन स्निग्ध था। सामने विशाल फलक फैला था। मुक्त फलक। अनन्त फलक। मुझे लगा, सारी पृथ्वी मेरी है। यह आकाश भी मेरा है। मैं अकेली नहीं। दो हाथ फैला दूं तो पूरे ब्रह्मांड को अपने आलिंगन में समा लूं।

मैं पूर्ण हूं। □

छठी मइया

रंजन कुमार सिंह

बाहरी संस्कृति का शोर चाहे जितना भी आतंकित करे परंतु माटी से जुड़े कुछ रचनाकारों का स्वर उससे प्रभावित नहीं होता है। देश के लिए निरंतर चिंतित ये कलमकार अपनी कलम से निरन्तर एक ऐसा परिवेश रचते हैं जो हमें सार्थक सोच के लिए बाध्य करता है। चर्चित कहानीकार रंजन कुमार सिंह की कहानी एक ऐसा ही सार्थक प्रयास है।

छठ के प्रसाद से भरे गगरे को सिर पर रखते हुए औरत गाने लगी थी—

"केलवा फरल घऊद मैं
ओपे सुगा मंडराए ..."
किसी ने गगरों को अपने पति के हवाले कर दिया था तो किसी ने नौकर के हवाले।
माहौल मिले-जुले कोरस से रससिक्त था।
"मारब सुगा के गुलेल से
सुगा गिरे मुरछाए!
सुगा गिरे मुरछाए!!"

बीच-बीच में हंसी-ठिठोली भी हो जाती—"ए रामपिरितिया के माई, कहां ठुमुक के बढ़ल जात बरू?"

"... सुगा गिरे मुरछाए ..."

विभिन्न घाटों से निकलकर मर्द, औरत और बच्चे रोड पर आते चले जा रहे थे।

पिप् पीं ...

"ए निकलने दो, निकलने दो। मिनिस्टर साहिब का गाड़ी है। झंडा नहीं दिखता?"

"ए बुढ़िया ..."

"हत् तोरी के, इ तो जवाने है। अइसन कपड़ा डाले हुए?"

"चल, हट। भीख मांगना है तो किनारे जाओ, किनारे।" उसके खुले वक्षों को अपनी लाठी से गोदते हुए सिपाही ने कहा।

"... मारब सुगा ...

"केलवा फरल ..."

"... गिरे मुरछाए!

"सुगा गिरे मुरछाए!"

पौं ... पौंपौं

"रस्साला इ ट्रक कइसे ले आया एन्ने?"

"हट के भइया, हट के। ट्रकवाला मार दे, कौन भरोसा?"

"ए मास्टर, इधर कहां लिए जा रहे हो?"

"ए मास्टर! ए ट्रक भाई, तुम्हीं को कह रहे हैं, तुम्हीं को। इधर कहां जा रहे हो बोम्बा लेकर?"

"साले सिपाही को न देखना चाहिए इ सब?"

"सिपहिया साला का देखेगा? ओही तो घुसाया होगा इसको। दू रुपइया के लिए बहिन ..."

"ओपे सुगा मंडराए ..."

"अरे देखो, बच्चा ट्रक के नीचे ..."

"ट्रक भाई ... ए ट्रक भाई!"

"अरे बहिन ... एन्ने कइसे ले आया तुम ..."

पौं पौं पौं

"अरे भई, रोक्के ... रोक्के!"

लोग चिल्ला रहे हैं, इशारा कर रहे हैं। लेकिन तभी पीछे से एक रेला आता है और वे आगे निकल जाते हैं। उनका स्थान पीछे की भीड़ ले लेती है। फिर वही सारे संवाद दुहराए जाते हैं।

"ए देखो एक लड़का ..."

"घबराना नहीं बेटा, घबराना नहीं!"

"ए मास्टर ... ए ट्रक मास्टर!"

"केलवा फरल घऊद में ..."

ट्रक और बच्चे के बीच की दूरी सिमटती जा रही है। लड़के के सामने खुला मेनहोल है, पीछे ट्रक। अब लोग लड़के को ट्रक से बचने के लिए मेनहोल में कूद जाने की सलाह दे रहे हैं।

"कूद जाओ बेटा, कूद जाओ ..."

करीब पांच साल का बच्चा बेचारा!

पौं पौं पौं

"ए ट्रक रोक्के भाई, रोक्के ..."

लड़का स्थिति को पकड़ने की कोशिश करता हुआ गुम-सुम खड़ा है।

"अरे, कोई ट्रक को रोकवाए।"

"... सुगा गिरे मुरछाए ..."

"केलवा फरल घऊद में ..."

"ओपे सुगा मंडराए! ..."

"चल, भाग यहां से!" उन्होंने उस अर्धनग्न औरत को देखकर उसे फटकारा।

उसे अजीब लगता है। जो लोग अकेले में उसे पूरा का पूरा पा लेना चाहते हैं, लोगों के बीच उन्हें उसकी अर्धनग्नता भी चुभती है। उसका मन हुआ कि जोर से अट्टहास करे। पर इतनी शक्ति भी नहीं बची थी उसकी देह में। उसे अब भी उनकी कनखियां अपने खुले अंगों को चिकोटी काटती हुईं महसूस हुई। एक तीक्ष्ण मुस्कराहट उसके अधरों पर फैल गई।

इस मुस्कराहट ने मानो केशवलाल की सारी सभ्यता और सौम्यता उधेड़कर रख दी। वह सायास दूसरी ओर देखने लगे। सूर्य को अर्घ्य देकर उनकी पत्नी कुछ अन्य महिलाओं के साथ गंगाजी से बाहर निकल रही थीं। लेकिन इधर आने की बजाय वे सभी दूसरी ओर बढ़ गईं। वे सभी एकवस्त्रा थीं। उनके गीले कपड़े उनके वक्ष, पेट, पिंडलियों से चिपककर उनकी गोलाइयों की चुगली कर रहे थे। केशवलाल आंखें बचाकर उधर देखते रहे, जब तक कि वे सभी अस्थायी तौर पर वहां तान दी गई चादरों की ओट नहीं हो गईं। फिर कनखियों से अपनी दायीं ओर देखा, जहां वह अधनंगी औरत खड़ी थी। अब तक वह जा चुकी थी। कई औरतें अब भी गंगाजी में आधी डूबी हुई डूबते सूर्य को अर्घ्य दे रही थीं।

जाने कब उनकी श्रीमती जी कपड़े बदलकर उनके पास आ गई थीं। गीले कपड़ों की पोटली रखती हुई बोलीं—"आप भी नहा लीजिए न!"

केशवलाल उधर मुखातिब हुए। श्रीमतीजी की पीठ पर फैले गीले बालों से टपकती बूंदों ने उनकी प्यास और भड़का दी। बोले—"अब क्या नहाएं? अब कौन-सा सुख रहा?"

और एक शरारतपूर्ण मुस्कान उनके चेहरे पर फैल गई।

"बड़े वो हैं। समय और जगह का तो ख्याल किया कीजिए"—यह कहते हुए

उनका चेहरा रक्ताभ हो गया। लज्जा की इस लाली ने कदाचित उनके रूप में और सौंदर्य भर दिया।

"बस इसी का तो ख्याल किए बैठा हूं," केशवलाल ने कहा और फिर उसी तरह मुस्करा दिए।

श्रीमती जी झेंप गईं, अतः बात बदलते हुए पूछा—"राजू-मुन्ना नहीं नजर आ रहे कहीं?"

"वे रहे आपके पीछे ही तो।"

श्रीमती जी ने पीछे मुड़कर देखा। दोनों बच्चे एक-दूसरे से खेलने में मशगूल थे। उन्होंने सोचा कि आवाज देकर उन्हें बुला लें, फिर जाने क्या सोचकर रह गईं।

लाउड-स्पीकर पर दूर कहीं किसी पंडित के कथावाचन का स्वर सुनाई दे रहा था—"... तो इस तरह सूर्यदेव की आराधना से छठी मइया को पुत्र-धन की प्राप्ति हुई। शास्त्रों में कहा गया है कि छठी मइया का व्रत करने से पुत्र-रत्न की कामना सफल होती है और उसकी रक्षा होती है ..."

केशवलाल के पास बैठी उनकी पत्नी न जाने कहां डूबने-उतराने लगी थीं ...

उनका बड़ा बेटा राजू तब डेढ़ साल का था। न जाने उसे क्या रोग हो गया कि डॉक्टर भी उसे पकड़ नहीं पा रहे थे। इसके लिए उन्होंने दिल्ली, अजमेर सब किया। पर राजू का स्वास्थ्य बिगड़ता चला गया। दिल्ली तक के डॉक्टरों ने हार मान ली। अजमेर-शरीफ पर चादर चढ़ाना काम न आया। ओझा को भी दिखाया। उसका झाड़ना-फूंकना भी व्यर्थ गया। अंतिम अवलंब के तौर पर उन्होंने छठी मइया से मंगत मांगी। हे मइया, अगर मेरा राजू ठीक हो गया तो अबकी बरस छठ व्रत जरूर करूंगी। ... और सचमुच राजू ठीक हो गया। लेकिन अपना व्रत वह नहीं निभा सकीं। घर में गमी हो गई थी। फिर उससे अगले बरस राजू हो गया। इसी तरह छह साल निकल गए। इस बीच पिछले साल मुन्ने का भारी रोड एक्सीडेंट होते-होते बचा। फिर भी उसे चोट काफी आई और हफ्ते भर उसे अस्पताल में रखना पड़ा। तभी केशवलाल की पत्नी के संकल्प कर लिया था कि चाहे कुछ हो जाए छठ व्रत वह इस साल जरूर से जरूर रखेंगी। ...

"दस का नोट होगा?" उन्होंने अचानक अपने पति से पूछा।

"क्यों?"

"दीजिए तो सही।"

"दस का नोट क्या, आप दिल भी कहें तो निकाल कर धर दूं!" जेब से नोट निकालकर देते हुए उन्होंने कहा।

"अच्छा, रहने दीजिए ... बहुत देखा है", दस साल की वैवाहिक जिन्दगी में वह अपने पति की लाग-लपेट की आदत से भली तरह परिचित हो चुकी थीं।

केशवलाल चुपचाप बैठे देखते रहे। उनकी पत्नी उस नोट को मोड़-माड़ रही थी उनके देखते-देखते ही दस रुपए का वह नोट कागज की नाव में तबदील हो गया।

"तो इसीलिए लिया था रुपया?" लगा कि जैसे अपव्ययता के खिलाफ लंबा-चौड़ा भाषण हो जाएगा।

लेकिन श्रीमती जी ने स्थिति संभाल ली। याद दिलाती हुई बोलीं, "अभी तो दिल रखे दे रहे थे आप?"

केशवलाल का हाल अपने ही जाले में फंसे मकड़े जैसा हो गया। वह कुछ कहते, इससे पहले ही श्रीमती जी उठकर गंगा जी की ओर बढ़ गईं ...

"ए, उधर देख, उधर," पीछे से किसी की आवाज सुनाई पड़ी।

श्रीमती जी ने पीछे मुड़कर देखा। दो युवक थे। फिर उनकी दृष्टि उधर गई जिधर एक ने दूसरे को देखने का इशारा किया था। किसी औरत की ... छिः, यही सब देखने के लिए घुमड़ते हैं ये छोकरे! अपनी साड़ी के पल्लू को खींचते हुए एकदम से पलटकर उनकी नजर अपने दोनों बच्चों की ओर चली गई। दोनों अब भी अपने खेल में मग्न थे।

"राजू ... मुन्ना!" उन्होंने जोर से आवाज लगाई।

दोनों बच्चे अचकचाकर दौड़े चले आए।

"जाओ, जाकर बैठो डैडी के पास।" उन्होंने आदेश दिया।

"पर मम्मी ..."

"मैंने कहा न, जाकर बैठो वहां", उन्होंने कहा और बच्चे कुछ न समझते हुए भी चुपचाप डैडी के पास जा बैठे।

... पानी के पास पहुंचकर श्रीमती जी ने दस के नोट से बनी नाव को धीरे से पानी की सतह पर छोड़ दिया। फिर चुक्की-मुक्की बैठकर उसे देखते हुए कहीं और खो गईं ...

पास ही पानी में कोई उतरा था। इसी से उनका ध्यान बिखरा। उन्होंने देखा, एक अधनंगी औरत उनके द्वारा पानी में छोड़ी गई नाव की तरफ बढ़ रही थी। उसने अपना हाथ तुड़े-मुड़े, पानी में गलते नोट की ओर बढ़ाया ही था कि वह लगभग चीख पड़ीं—"ए पगली, क्या करती है? गंगा मइया का शाप लगी?"

और उसके बढ़े हाथ एकदम से खिंच गए थे। जब वह पानी से बाहर निकली तो बेतरह कांप रही थी। उसके मुख पर अपराधिनी का भाव था। उसे लगा मानो गंगा मइया ने उसे सचमुच शापित कर दिया हो। किंकर्तव्यविमूढ़-सी खड़ी वह अतीत में गहरे उतरती चली गई ...

"बचवा के इलाज के लिए पैसे चाहिए तो रात घर चली आना।" चौधरी ने सुझाया था।

ठीक से आज से साल भर पहले। ऐसी ही कार्तिक पूर्णिमा की षष्ठी थी वह भी। दिन भर के उपवास और शाम के सूर्य को अर्घ्य देने के बाद वह चौधरी के घर पहुंची

थी। फिर बहुत मुश्किल से ही वह अपनी अस्मत बचा कर वहां से निकल सकी ... लेकिन बचवा को वह नहीं बचा पाई थी।

दूसरे दिन सुबह उदित होते सूर्य को अर्घ्य चढ़ाने के लिए जाते हुए व्रतधारियों ने देखा था, एक युवती अस्त-व्यस्त कपड़ों में तट पर इधर से उधर भाग रही है। जब कभी वह किसी पुरुष के पास रुककर अपने वस्त्रों को स्वयं ही खोलने लगती और फिर पूछती—"लेगा? ... रुपइया में? ... का? जादा हैं? ... अच्छा अट्ठन्नी?"

पुरुष झेंप से अधिक घबराहट से इधर-उधर देखने लगता और वह ठठाकर हंस पड़ती।

"प-ग-ली रे प-ग-ली

ताल ऊपर नाच रही।

प-ग-ली रे प-ग-ली"

बच्चे ताली बजाकर जोर-जोर से यह गाते हुए उसे घेरे खड़े थे। इसी से उसका ध्यान टूटा और उसने बनावटी गुस्सा करते हुए बच्चों को खदेड़ दिया। अब तक दस के नोट की बनी वह नाव गंगाजी में लीन हो चुकी थी। उसके साथ ही दूर क्षितिज पर टंगा सूर्य तेजी से विलीन होने लगा था। ...

श्रीमती जी जब लौटकर सामान की ओर बढ़ीं तो उन्होंने देखा कि राजू गगरे में से ठेकुआ निकालकर किसी भिखारी बच्चे को दे रहा है। आठ साल का रहा होगा वह। राजू के ही बराबर का। केशवलाल इससे बेखबर पास ही कुछ लोग से बतियाने में मशगूल थे। श्रीमती जी ने देखा गुप्ताजी और उनकी पत्नी थें। ... तो वे भी पहुंचे हुए हैं यहां!

अपने पति को जब भी गुप्ताइन से बात करते देखतीं, उनके तन-बदन में आग लग जाती। लोग कहते हैं—मरने दो इन्हें। लेकिन यह विचार मन में आते ही उन्होंने दांतों से अपनी चीभ काट ली। व्रती की बात कहीं सच न हो जाए! पर वह करे क्या? कहां इन्हें प्रसाद अगोरने को कहा था और यहां यह हो रही है अगोराई। इस कठिन व्रत के बीच उन्होंने मर-खपकर प्रसाद तैयार किया था और उसका यह हाल ... सूर्य को दो अर्घ्य देने तक प्रसाद की हिफाजत जरूरी है। ऐसा न होने पर छठ व्रत का पुण्य जाता रहता है। कौन जाने शाप भी लगता हो? लेकिन इन्हें इससे क्या? खुद करे तब न जानें व्रत की कठोरता।

अपने पति को अनदेखा करने का अभिनय करते हुए उन्होंने तेजी से आगे बढ़कर उस भिखारी बच्चे के हाथ से ठेकुआ छीन लिया। गुस्से से थरथराते हुए उसके कोमल गाल पर दो हाथ भी जड़ दिए। फिर छठी मइया से क्षमा मांगते हुए ठेकुए को वापस गगरे में डाल दिया। अब उनकी नजर बच्चे के साथ खड़ी औरत पर गई। वही पगली थी।

"अरे पगलिया! ये तो बच्चे हैं, तू तो जानती है कि कल सुबह अर्घ्य दिए बिना प्रसाद नहीं छुआ जाता?" सारा भड़ास गुस्सा बनकर उस पर उछल गया।

उनका क्रोध भरा स्वर सुनकर गुप्ताजी पास आ गए। बोले—"भाभी जी, गुस्सा

थूकिए। इससे व्रत का महात्म चला जाता है।"

श्रीमती जी ने कोई प्रतिक्रिया नहीं जताई। मन ही मन कहा—खुद करो तो पूछूं!

गुप्ता जी अब उस पगली की ओर मुखातिब हुए—"चल, फूट यहां से!"

पगली चुप ही रही। हाथ से ठेकुआ छीने जाने और गाल पर थप्पड़ की मार से बच्चा रुआंसा हो गया था। पगली ने चुपचाप उसे अपने फटे आंचल में सहेज लिया। सहानुभूति पाकर वह उसमें और दुबक गया, लेकिन आंचल की अजनबीयत का एहसास होते ही वह एकदम से छिटककर अलग हो गया और फिर बिना पीछे मुड़कर देखे ही दूर तक भागता चला गया ...

वह उसे जाते हुए देखती रही, जब तक कि भीड़ ने उसे निगल नहीं लिया। वह धीरे से बुदबुदाई—बचवा!

"प-ग-ली रे प-ग-ली
ताल ऊपर नाच री"

पगली को वहां देखकर राजू भी उसी तरह ताली बजा-बजाकर गाने लगा, जैसे कि उसने अपने हमउम्र अन्य बच्चों को कहते हुए देखा था।

"राजू बिहेव योरसेल्फ।" श्रीमती जी ने गुस्से में कहा।

वह सहमकर चुप हो गया।

"तू अब जाएगी कि नहीं?" श्रीमती जी ने पगली को टोका।

वह जाने के लिए मुड़ी ही थी कि राजू ने हलके से कहा—दिखाएगी?

पगली के शरीर में ऊपर से नीचे तक झनझनाहट कौंध गई। इन बातों की वह अभ्यस्त थी, पर यह बच्चा ...? निश्चय ही वह सुनी-सुनाई बात दुहरा रहा है केवल। लेकिन क्या यह सही नहीं कि जिस समाज ने उसे पगली बनाया है, वही अब उसे चौधरी बना रहा है! और वह उलटकर देखे बिना बढ़ती ही चली गई।

पगली के जाने के बाद श्रीमती जी को जैसे ध्यान आया। उन्होंने इधर-उधर देखकर पूछा—"राजू, मुन्ना कहां है?"

"यहीं तो था, मम्मी।"

पर वह आसपास कहीं भी नजर नहीं आ रहा था।

अब तो श्रीमती जी के लिए खुद को रोक पाना मुश्किल हो गया। अपने पति के सामने जाकर फूट-फूटकर रो पड़ीं। रोते ही रोते सिसकियों के बीच बोलीं—"प्रसाद अगोरने का काम तो नहीं हुआ आपसे, बच्चे को भी नहीं देख सके आप!"

पहले तो केशवलाल ने समझाना चाहा कि "यहीं कहीं होगा मुन्ना, आ जाएगा," लेकिन श्रीमती जी का रोना कम न हुआ और न ही मुन्ना कहीं नजर आया। अब तो केशवलाल भी घबरा गए। फिर भी अपनी पत्नी का हौंसला रखने के लिए उन्होंने कहा,

"तुम रुको। मैं सेवादल वालों को बता कर आता हूं। लाउड-स्पीकर पर उसका नाम भी बुलवाता हूं।"

इतना कहकर वह सेवादल वालों के टेंट की तरफ बढ़ गए।

"अरे भाई, किसका है यह बच्चा?"

"कोई बचाए इसे ..."

"अरे, कोई बढ़कर रोकवाता काहे नहीं है जी ट्रक को।"

" ... सुगा गिरे मुरछाए ..."

"कैसी डाइन मां है, बच्चा मर रहा है और उसका पता नहीं!"

"डाइन!" यह शब्द बिजली की नंगी तार की भांति उसे छू गया।

चौधरी ने कहा था—तू डाइन है डाइन। तूने ही मारा है अपने बच्चे को!

हां, उसी ने मारा है, उसी ने। समय रहते यदि वह चौधरी को ...

और फिर न जाने कितने तर्क-वितर्क क्षणांश में ही उसके मस्तिष्क में नाच गए। किन्तु एक बार उनके व्यूह में फंसकर अपना बचवा खो चुकी थी वह, अब दूसरी बार ...

"नहीं", वह जोर से चीखी और भीड़ को चीरती हुई किनारे से निकलकर ट्रक की ओर दौड़ पड़ी थी ...

"साक्षात छठी मइया थी!"

श्रीमती जी को अपना मुन्ना मिल गया था। मेनहोल की गंदगी में लिपटा उसका सहमा मुंह अजीब लग रहा था। उसी दशा में वह उसे चूम-चूम ले रही थीं। दोनों की आंखों में देर से रुका हुआ बांध अब निर्बाध बह रहा था।

"बच्चे को उसने उसी वक्त मेनहोल में न धकेला होता तो ..."

"देवी रही होगी कोई!"

"छठी मइया कहो जी, छठी मइया।"

"... बच्चे को बचाने रूप धरकर आई थी!"

"अब आई है लड़के की मां? हमने तो सोचा कि वही ..."

भागने के पहले ही लोगों ने ड्राइवर को पकड़ लिया था।

"बोल स्साले, कहां परमिट?" मारते हुए उससे प्रश्न पूछे जा रहे थे।

ट्रक के नीचे आकर पगली का चेहरा विकृत हो गया था।

"पगली? छठी माई बोलो, छठी माई!"

श्रीमती जी ने मुन्ने को नीचे रखा और गगरे से निकालकर दो केला, एक गागर

नींबू, पांच ठेकुआ और चुटकी भर सिंदूर 'छठी मइया' के ऊपर धर दिया। फिर पैर छूकर उसे प्रणाम किया।

उसके कपड़े अब भी अस्त-व्यस्त थे, जिनसे उसके शरीर का ऊपरी हिस्सा खुला पड़ा था मानो लोगों से अब भी पूछ रहा हो ...

लेकिन लोगों की नजर उधर नहीं थी। वे अब उसके सामने श्रद्धानत खड़े थे। तभी किसी ने शव पर चादर डाल दी।

किसी ने उत्साह में भरकर नारा लगाया—"छठी मइया की ..."

और अनेक कंठों ने उसका साथ दिया—"जय! जय!"

□

संबंध

डॉ. गुरचरण सिंह

आज के बदलते परिवेश में संबंधों के अर्थ भी बदलने लगे हैं। जीवन-मूल्यों में बढ़ते ह्रास ने हमारे अपने बीच के लोगों में ही कई सवाल खड़े कर दिये हैं। कुछ ऐसे ही संबंधों को प्रस्तुत कर रहे हैं कथाकार एवं आलोचक डॉ. गुरचरण सिंह अपनी ताजा कहानी में।

बात संबंधों की हो रही थी।

नीता सोफे पर कुछ और फैल जाती है। साड़ी का पल्लू कंधे से फिसलता है। वह सलीके से उसे ठीक कर लेती है।

सरला तनकर बैठी हुई है। अभी तक वह ही बोल रही थी। कॉलेज की यूनियन की सचिव रही है। कितना एक्टिव पार्ट लिया करती थी वह। बात-बात पर भाषण झाड़ना उसकी आदत हो गयी है। विवाह हो गया—उसके सारे अरमान रह गये। नहीं तो कम-से-कम एम.एल.ए. होती। अब घर-गृहस्थी से फुर्सत ही कहां मिलती है। फिर उसके पति को इस भाषणबाजी से चिढ़ है। वे कम-से-कम शब्दों का इस्तेमाल करने में विश्वास रखते हैं। उनकी अनुपस्थिति में कभी-कभी वह महिलाओं पर रौब झाड़ लेती है। मोहल्ला महिला समिति के सचिव के मोह को वह त्याग नहीं सकी। महिलाएं तो उसे अध्यक्ष बनाना चाहती थीं, पर चुपचाप बैठकर औरों की बातें सुनना उसे पसंद नहीं। वह जानती है—सारा काम तो सचिव ने ही करना होता है। अध्यक्ष के पास पॉवर ही क्या है। महिला समिति का संविधान उसी ने बनाया था।

कमला कुछ कहना चाहती है। पर सरला को यह पसंद नहीं है कि कोई और बोले और अपना ज्ञान बखारे। उसे बोलता देख सरला ने पहले ही कह दिया—"चाय आ रही है। बाकी बात चाय के बाद करेंगे।"

जलपान के समय भी महिलाओं की खुसर-पुसर जारी थी। कमला शायद अपनी बात पास बैठी महिला तक को पहुंचा ही देना चाहती थी। पर सरला ने उसे वह मौका भी नहीं दिया। वह दोनों के बीच आकर बैठ गयी और कमला से कहने लगी—"अरे! आप तो कुछ ले ही नहीं रही हैं। ये काजू खाओ न! स्पेशल मसाले वाले हैं। और ये बादाम-इम्पोर्टिड हैं। इतने बड़े-बड़े बादाम भला यहां कहां मिलते हैं।" कमला को उसका इस तरह बीच में टपकना बिल्कुल पसंद नहीं आया। उसे लगा सरला सोसायटी के साधारण मैनर्स भी नहीं जानती।

सोफे या कुर्सी पर फैल जाना नीला की आदत है। वह पीठ को सीधा रख ज्यादा देर नहीं बैठ सकती। किताबें-मैगजीन पढ़ना भी उसे अच्छा नहीं लगता। फिर वह समय कैसे काटे? और औरतें जिनकी पढ़ने-लिखने में रुचि नहीं है—स्वेटर बुनती हैं, कढ़ाई करती हैं। पर नीता को यह सब भी पसंद नहीं। उसने प्रायः देखा कि औरतें आस-पडोस की औरतों से बातें करके भी समय बिता लेती हैं। पर उसे चुप बैठना पसंद है। एक-दो बच्चे होते तो उनको सजाने-संवारने, पढ़ाने-लिखाने में उसका समय बीत जाता। उसे बच्चे अच्छे लगते हैं। वह गली में खेलते बच्चों को घंटों देखती रहती है। पर उन्हें प्यार नहीं कर पाती। 'ये अपने नहीं है' का भाव एकदम उभरकर सामने आ जाता है। फिर ... सिर्फ यही बात नहीं थी, और भी बहुत-सी बातें थीं। उसकी पति से बनी नहीं। ओफ! कितना तनाव था। दोनों ही एक-दूसरे के बोझ का अनुभव करते थे। आमने-सामने होते ही चेहरे मुरझा जाते। तनाव बढ़ जाता। जरा-जरा-सी बात पर दोनों का पारा चढ़ जाता। झगड़ा किस बात पर शुरू हुआ था यह भी याद न रहता। बात कहीं की कहीं पहुंच जाती। नीता मायके चली आयी थी—फिर मायके ही रह गयी। एक सरला ही थी जिसने उसके कदम को सही बताया था और बाकी ... उनकी बातों को छोड़ो। नीता जानती है घर में उनकी कितनी बनती थी। कितनी सुखी हैं वे। सभी मुखौटे पहनकर समिति की मीटिंग में आ जाती हैं।

नीता चाय का गर्म घूंट गले के नीचे उतारती है। काजू का एक दाना उसके हाथ में है। न जाने कब से उसे वह ऐसे ही पकड़े हुए है। कुछ खाने को उसका मन ही नहीं कर रहा। सरला इस स्थिति में बैठे उसे कई बार देख चुकी है। पर इस समय वह व्यस्त है। कमला को छोड़कर वह नीता के पास नहीं जा सकती। नीता से उसे कोई खतरा नहीं है।

पहला दिन था—नीता सोचती है। उसे शराब पीने वाले व्यक्ति से घृणा है। उसका पति धुत होकर उसके पास आया था। कलह उसी दिन से प्रारंभ हो गया था। पहले ही दिन उसने हाथ भी उठा लिया था। उस पीड़ा को, चोट को भला वह कैसे भूल सकती

है! नीता के सारे अरमान, सारी खुशियां पहले ही दिन मिट्टी में मिल गयी थीं। क्या सोचा था उसने और क्या मिला उसे। विवाह से पहले उसने उसकी कितनी तारीफ सुनी थी, पर निकला एकदम उलटा।

चाय अच्छी थी। मुफ्त की चाय वैसे भी अच्छी होती है। सरला को औरों को खिलाना-पिलाना अच्छा लगता है। वह औरों को खाते-पीते देखती रहती है। पिछली मीटिंग में औरों के घर क्या खाया-पिया था, सरला को याद रहता है। उससे अच्छा खिलाने की वह कोशिश करती है। पर पैसे तो श्रीमान जी से मांगने पड़ते हैं। और उन्हें यह सब बिल्कुल पसंद नहीं है। पर हर समस्या का कोई-न-कोई समाधान तो होता ही है। सरला भी ऐसे मौकों के लिए पैसे बचाती रहती है।

चाय का आखिरी घूंट पीते ही कमला ने फिर मुंह खोलना चाहा। सरला की नज़र उसी पर थी। वह जानती थी कमला कुछ-न-कुछ जरूर कहेगी। सरला ने ट्रे मेज के नीचे रखते हुए कहा—"तो बहनो, हमने आज तीन फैसले लिए। आप सभी उससे सहमत हैं?" कमला के सिवाय सभी के मुंह में अभी भी कुछ-न-कुछ था। बड़ी अजीब-सी आवाज निकली—"हां।"

"पर मैं ..." कमला ने फिर कुछ कहना चाहा।

सरला ने कहा—"बहन कमला कुछ कहना चाहती है। तो ऐसा करते हैं अगली मीटिंग इन्हीं के घर रख लेते हैं। वहीं इनकी बातें भी सुन लेंगे। तो अब मैं अध्यक्षा की अनुमति से यह मीटिंग यहीं समाप्त करती हूं।"

अध्यक्षा रेखा के मुंह में रसगुल्ला था। इसलिए वह कुछ बोल न सकी। हाथ के इशारे से ही उसने स्वीकृति दे दी। इतना सम्मान क्या कम है कि मीटिंग को उनकी अनुमति से समाप्त किया जा रहा है। यदि वह अनुमति न दे तो मीटिंग कई दिन समाप्त न हो।

नीता की समस्या निजी है। उसका महिला समिति से कोई मतलब नहीं है। समिति की मीटिंग्स में वह कभी बोली भी नहीं। वह तो सिर्फ समय काटने आ जाती है। जब वह वापस आयी थी तो उसकी मां ने कहा था—"छोटी-मोटी नोक-झोंक तो घर-गृहस्थी में चलती ही रहती है। तुझे इस तरह नहीं आना चाहिए था।" उसने अपनी स्थिति मां के सामने रखी थी। नोक-झोंक और महाभारत में अंतर है। पर मां तो आखिर मां है। ब्याही बेटी को अपने घर कब तक रख सकती है! आखिर नीता ने कहा था—"देखो मां, यदि वे मुझे लेने आये तो मैं अवश्य चली जाऊंगी।" नीता जानती थी ऐसा दिन कभी नहीं आयेगा। वे रोज ही तो कहते थे—"मेरे स्वतंत्र जीवन में जाल बनकर आ गयी हो तुम। मैं इस जाल में नहीं रह सकता। मुझे तुम्हारे ये सवाल—कहां जा रहे हो, कब आओगे, देर से क्यों आये, नाश्ता कर लो ... बिल्कुल पसंद नहीं हैं। अपने काम से मतलब रखो। दखल देने की कोई जरूरत नहीं है।"

सुना था—बीवी के हाथ की रोटी खाने के लिए लोग तरसते हैं। पर उन्होंने सुबह के ब्रेक-फास्ट के सिवाय कभी घर पर खाना नहीं खाया। नाश्ता भी कहां भाता था उन्हें। वहां भी रोज झगड़ा होता था। 'यह अंडा उबाला है! पत्थर कर दिया है। कितना नमक-मिर्च डाल देती हो तुम।' कम कर देने पर—'कितना फीका-फीका है सब।' कई बार प्लेटों को पटक चुके थे वे। रो लेने के सिवाय और नीता कर ही क्या सकती थी।

नीता मां पर बोझ बनना नहीं चाहती थी। वह पढ़ी-लिखी थी। एक पाठशाला में उसे नौकरी भी मिल गयी। उसका समय भी कट जाता था और पैसे भी मिल जाते थे। उसका खर्चा ही क्या था। तीन-चार साल में अच्छी-खासी रकम बैंक में जमा हो गयी थी। मां उसके पैसे घर में नहीं घुसने देती थी—'हाय-हाय! बेटी की कमायी हम खायें। भगवान यह पाप हम से न कराये।' नीता मां की इस बात पर हंस देती।

महिलाएं उठने लगी थीं। चाय-पानी के लिए सभी सरला को धन्यवाद दे रही थीं। कमला, नीता के पास आ गयी थी। उसने नीता से कहा—"मैं कुछ कहना चाहती थी, पर सरला ने कहने ही नहीं दिया।"

मुसकराते हुए नीता ने कहा—"मान लो, तुम कह ही लेतीं तो क्या फर्क पड़ जाता। यह समिति कर ही क्या सकती है? इसके पास अधिकार ही क्या हैं? कमला, यह तो समय काटने का एक मॉडर्न तरीका है। आओ, हंसो-खेलो और खाओ।"

"पर मुझे अपनी बात कहने का अधिकार तो है। सरला तो उस अधिकार को भी छीन लेती है।"

"चलो, अब छोड़ो भी।"

कमला मुस्करा दी—"नीता बहन, मैं इस मोहल्ले में नयी आयी हूं। यह मेरी दूसरी मीटिंग है। अगली मीटिंग मेरे घर है। सरला को तो ऐसा सबक सिखाऊंगी कि ...।"

"क्या कॉलेज में आप भी सचिव रही हैं?"

"नहीं। पर किसी को सीढ़ियां चढ़ते हुए मैं देख नहीं सकती। अब सरला अगली सीढ़ी पर पैर नहीं रख सकती।"

सभी चले गये थे। नीता सरला के पास बैठना चाहती थी। उसे घर काम भी क्या था। बातों-बातों में नीता ने सरला को बता दिया कि कमला क्या कह रही थी।

सरला मुस्करा दी। उसने अपना पर्स खोला। उसमें अभी भी कुछ नोट थे। उसने कहा—"नहीं, वह मेरा कुछ नहीं कर सकती।"

नीता जानती है पैसे की अपनी शक्ति है। पर पैसे से हम जो चाहे पा सकते हैं, इसे वह नहीं मानती। सरला हर चीज़ को पैसे से तोलती है। नीता को उसकी यह आदत पसंद नहीं। इस विषय पर सरला से उसकी कई बार बहस हो चुकी है। कितनी जिद्दी है सरला। नीता को चुप रह जाना पड़ता है। वह जानती है उस पर असर होने वाला नहीं।

सरला क्या करेगी, नीता जानती है। वह एक-एक महिला को घर बुलायेगी। उसे अच्छा खिलाएगी-पिलायेगी और कमला के खिलाफ कान भर देगी। इतना भड़का देगी कि कमला का बाहर निकलना मुश्किल हो जायेगा।

राजनीति की अच्छी खिलाड़ी है सरला।

कुर्सी पर फैले हुए नीता को चार दिन हो गये हैं। स्कूल से उसने लंबी छुट्टी ले ली है। वह कभी छत पर घूमते पंखे को देखती है तो कभी मन न होते हुए भी पत्र-पत्रिकाओं में उलझ जाती है। पत्रिकाओं से नजर उठाते ही डॉक्टर, नर्स और दवाइयां।

डॉक्टर और नर्स राउण्ड पर आते हैं। बैड के पास खड़े हो बतियाते हैं। कभी डॉक्टर, तो कभी नर्स इंजेक्शन दे चले जाते हैं। ग्लूकोस की एक बोतल खाली होती है तो दूसरी चढ़ा देते हैं। कल से नाक-मुंह में भी नली लगा दी है।

उस दिन नर्स ने पूछ लिया था—"हस्बैंड हैं आपके?"

क्या जवाब देती नीता! वह चुप रही थी। इस चुप का नर्स ने क्या अर्थ लगाया था—वह नहीं जानती। वह इस कमरे में क्यों है? इस सवाल पर बहुत सोच चुकी है वह।

सरला ने कभी कहा था—"हार मत मानना, नीता। साधारण औरत की कमजोरी को खुद में मत आने देना। तुम असाधारण हो, बस असाधारण बने रहना।"

नीता जानती है—सरला पार्टी, मीटिंग आदि के लिए पति से छिपाकर पैसे बचाती है। फिर उसे इस तरह कहने का क्या अधिकार? वह इस तरह के मुखौटे नहीं पहन सकती।

नीता याद करना चाहती है बात कहां से शुरू हुई थी। तभी उसे कमला नजर आती है। वह झट कमरे से बाहर आ कमला के कंधे पर हाथ रख देती है।

"अरे नीता! तुम यहां कैसे?"

"पहले तुम बताओ, तुम कैसे?"

कमला मुस्कराती है—"नीता, हम मोहल्ला छोड़कर तो चले आये पर सरला को सबक अच्छा सिखाया।"

"सबक, पर वह क्या?"

कमला ने नीता की तरफ घूरकर देखा। वह जानना चाहती थी कि कहीं नीता बन तो नहीं रही। उसने ही कहा—"तुम तो सरला के काफी क्लोज हो। क्या तुम्हें भी नहीं मालूम?"

"नहीं, मुझे कुछ नहीं मालूम।"

कमला कुछ सोचकर कहती है—"तो रहने दो। और सुनाओ, क्या हाल है? क्या सरला के व्यवहार में कुछ अंतर आया?"

"नहीं, वह तो वैसी ही है।"

"कितनी ढीठ और निर्लज्ज है।"

कमला उठकर चली गयी थी।

न डॉक्टर जानते हैं और न नीता--मरीज कब आंखें खोलेगा। कुछ कहा नहीं जा सकता।

डॉक्टर कहता है—"आपकी तपस्या जरूर रंग लाएगी। प्रार्थना करो। केवल वह ही इन्हें बचा सकती है।"

नीता के दोनों हाथ जुड़ जाते हैं।

नीता खिड़की के बाहर देखती है। मौसम बदल रहा है। पेड़ों से पत्ते झड़ने लगे हैं। स्कूल से इतनी लंबी छुट्टी तो नहीं मिल सकती उसे। मां ने बताया था—वह यदि स्कूल नहीं गयी तो उसे निकाल देंगे। उसकी निगाह पर्स में पड़ी पास-बुक के पन्नों पर जाती है। दवा-दारू, कमरे का किराया, डॉक्टरों की फीस ... फिर इस सब का उसे क्या फल मिलना है, वह नहीं जानती।

सरला जब भी आती है यही कहती है—"तुम पागल हो। क्या संबंध है इससे तुम्हारा? क्या दिया है इसने तुम्हें? उसे तो मालूम भी नहीं कि उसके पास कौन बैठा है।"

मां भी ऐसा ही कहती है—"जब कोई संबंध रहा ही नहीं तो इस सब से क्या फायदा?"

नीता सोचती है। एक बार विचार पैदा हो जाये तो फिर फिल्म-सी चलती रहती है। अंतहीन।

रेखा अब भी अध्यक्षा है और सरला सचिव। सरला ने ही बताया था कि फिर से चुनाव हुए हैं। वह जीत गयी है। उसने आगे कहा था—"इस बार तुम होतीं तो रेखा की जगह खड़ा करती। रेखा तो बोर है। खाने के सिवाय उसे कुछ आता ही नहीं।"

"फिर तो ठीक है। यदि वह तुम्हारी तरह एक्टिव होती तो।"

"हां, यह तो ठीक है।" वह मुस्कराती।

"मेरी मानो तो स्कूल ज्वॉइन कर लो। दोपहर तक बिठाओ मां को और उसके बाद बैठो खुद। इससे दोनों काम हो सकते हैं।"

"सो तो ठीक है। पर मैं चाहती हूं जब भी वे आंख खोलें मुझे सामने बैठा पायें।"

"बुरा न मानना, नीता, आँख खुलेगी तब न। तुम समझती क्यों नहीं, ही इज इन डीप कोमा।"

"मैं जानती हूं। डॉक्टर भी आशावान नहीं हैं। चलो, जैसा तुम कहती हो।"

नीता स्कूल जाने लगी थी। पर मां को अस्पताल बैठना पसंद नहीं आया था।

नीता के घर ही खबर आयी थी। एक्सीडेंट हो गया है—गम्भीर। सिर पर चोट आयी है। अस्पताल ले गये हैं। तुम पहुंचो।

"मैं पहुंचूं ... पर क्यों? मेरा अब क्या रिश्ता? कई सालों के बाद रिश्ता जागा कैसे? जरूरत के समय फिर मुझे ही तो पुकारा। अब बुला लेते किसी और को। मुझे कुछ हो जाता तो क्या वे आते?"

कैसे तेजी से अस्पताल की तरफ भागी थी वह।

खून से लथपथ शरीर। जगह-जगह बंधी हुई पट्टी। लात में फ्रेक्चर था। पलस्तर कर दिया गया था। कई तरह के टैस्ट हो गये थे। बस चक्कर सिर की चोट का था।

डॉक्टर ने शायद मजाक में कहा था—"नीता, बहुत सेवा की तुमने। पर मान लो होश आ जाये और वे तुम्हें न पहचानें तो?"

नीता को लगा था—उसके पैरों के नीचे से जमीन खिसक रही है।

डॉक्टर ने कहा था—"भगवान करे वे बिल्कुल स्वस्थ हो जायें पर ऐसे केसेज़ में कुछ भी हो सकता है।"

कल डॉक्टरों ने कह दिया था—"इसे घर ले जाओ। यहां रखने से कुछ लाभ तो है नहीं। आप पर ही नाहक खर्चा पड़ रहा है। एक नर्स रख लो, सब देख लेगी। कभी-कभी डॉक्टर घर आकर देख जायेगा।

नीता जानती है डॉक्टर ठीक कह रहा है। अस्पताल में और रहने की उसकी हिम्मत भी नहीं थी। इन सालों में उसने जो जोड़ा था सब खर्च हो गया था।

घर का एक कमरा ही अस्पताल बन गया था। बिस्तर, स्टैण्ड, ग्लूकोस की लटकती बोतल, तिपाई पर पड़े कई तरह के इंजेक्शन।

नीता सोचती है—उसे क्या मिला।

मां कहती है—"कैसे हैं इसके संबंधी! कोई पता करने भी नहीं आया।"

"है ही कौन?" नीता कहती है—"माता-पिता तो रहे नहीं। एक बहन है, वह अपने पति से बिना पूछे कैसे आ सकती है। फिर आकर करेगी भी क्या?"

"पर एक-आध बार तो आना चाहिए।"

"लाभ क्या?"

नीता सोचती है—पर उसे क्या लाभ? न पहले कुछ मिला, न अब। उसने तो सिर्फ खोया है। □

कालीघाट

कैथरीन क्लिमेंट

कैथरीन क्लिमेंट फ्रेंच भाषा की सुविख्यात कवि तथा उपन्यासकार हैं। पेरिस विश्वविद्यालय में वह दर्शन शास्त्र की व्याख्याता रहीं। उन्होंने भारतीय जीवन और धर्म पर काफी लिखा है। 1989 में उनकी एक पुस्तक महात्मा गांधी के संबंध में भी प्रकाशित। सम्प्रति क्लिमेंट पेरिस में एक वृहद उपन्यास लिख रही हैं।

उनकी चपटी नाक में सुबह की मनमोहक गंध है
उनके नासिका रंध्र हवा में उठे हैं
उनके रोम खड़े हैं और चमक रहे हैं
उनके शरीर से अभी भी चू रहा है
अंतिम स्नान का पवित्र जल
वे बलि के बकरे हैं।

वे खुशी में कुलाँचें भर रहे हैं
वे दुलार पाकर पुलक रहे हैं
वे पुष्पों से लदे महक रहे हैं
वे बरामदे से बाहर छलांग लगाने में व्यग्र हैं
वे रक्तस्नात होने की तैयारी में हैं
वे रस्सियों से कस दिए गए हैं :
वे बलि के बकरे हैं।

उनको बलिवेदी पर कस दिया गया है
उनकी टाँगे बंध चुकी हैं
वे बहुत निरीह हैं
बच्चों की तरह कोमल
अनभिज्ञ
वे एकदम अनाड़ी हैं।
न उनको सिर ऊपर लटकते घड़ियाल का बोध है
न उस तीक्ष्ण अस्त्र का
न उस पुजारी से कोई बैर है
जो उनके सिर को धड़ से जुदा कर देगा!
वे बलि के बकरे हैं।

काली माई! भयावह, क्षुधार्त देवी के लिए
पुजारी को रोज ही चाहिए बलि
रोज ही चाहिए निरीह बकरे!

बारिश

यह बारिश नहीं है, यह तो अंधा झंझावात है
जो बार-बार अपना फन पटकता है
यह बारिश नहीं है, यह तो चिड़ियों की
पगध्वनि है जो बलुआ पत्थर पर गूंज रही है
यह बारिश नहीं है, यह समवेत ध्वनि है
यह धमनियों का कम्पन है : दिल की आवाज है
यह बारिश नहीं है
जी नहीं ... यह बारिश है।

यह हठात् रुक गई है
और आकाश में मंडराने लगी हैं चीलें, टिटहरी और कौवे
और दूर उस बूढ़े पेड़ पर बैठा सफेद गिद्ध
फिर उड़ चला है।
मोर जाग गये हैं और थियेटर में लगे परदे जैसे

अपने थिरकते पंख नृत्य की मुद्रा में बिखेर रहे हैं।
फिर थिरकने लगे हैं ताड़ के वृक्ष
हरी दूब मचलने लगी है
शांत जल पर फुदक रहे हैं छोटे-छोटे कीट-पतिंग!

बारिश थम गई है
लगता है कि कुहरे की हरितिमा भरी तरलता में
दुनिया जी उठी है। □

अनुवादक : जगदीश चतुर्वेदी

वैरागी, कहां तुम्हारा घर

देवी राय

बांग्ला के जाने-माने कवि। शक्ति चट्टोपाध्याय स्मृति पुरस्कार से सम्मानित। मानुष मानुष, उत्पाद शहर आदि प्रमुख कृतियां।

वैरागी, कहां तुम्हारा घर
तुम्हारा नहीं कोई परिचय
शतरंज के खिलाड़ी सदृश्य—
अंगुली हिलाते हुए सजाते हो एक अभिनव
नूतन कोई श्रेणी तुम कहते हो इसी को संग्राम।

गये थे कभी उड़ीसा
हरिदासपुर के ओनझड़ गढ़
यह कौन आकाश
यह क्या कोई आन्दोलन भूमि
निर्मित तैयार ढेकी—छाँटा लाल चावल
याद आता है
खार-फूस से आच्छादित अल्पकालीन ग्रामीण शैशव
तुलसी चौरा पर निर्जन प्रदीप का—
काँपता आर्तनाद

तुम्हारी स्थायी जन्मभूमि कहां
अस्थायी यह जीवन, बॉस-पत्नी द्वारा निर्मित कॉलोनी का अंनुपम संसार

एक हाहाकार भरा ह्रदय ...
कहाँ वह निश्चित
तापहारी वैकुण्ठ धाम
तुम जो रह गये हो इसी धरा पर
हमको तो किसी ने बताया नहीं
वैरागी, कहाँ तुम्हारा घर।

अनुवादक : शंकर झा

बीता हुआ शोर

अवधनारायण मुद्‌गल

अवधनारायण मुद्‌गल कथा-साहित्य और काव्य की दुनिया का एक पहचाना स्वर है। वह चुपचाप, बिना किसी नारे के साहित्य-सृजन में विश्वास करते हैं। गगनाञ्चल के विशेष आग्रह पर उन्होंने अपनी ताजा पांच कविताएं प्रेषित की हैं। इन कविताओं में कवि के मन का अन्तस अभिव्यक्त हुआ है।

बार-बार
अनजाने ही खुल जाते हैं
बन्द हुए अध्यायों के द्वार

ढूंढने लगती हैं
अंगुलियां
राख की परतों के बीच
एक और परत बनकर दबे
साबुत अंगुलियों के निशान,

अक्सर उभरने लगते हैं
बार-बार सुनी हुई आवाज़ों के शोर

और लगता है
हर आदमी के सिरों पर
कुछ मुर्दे हैं

कंधों पर टिके हैं
पत्थरों के ढेर
और मैं
बीते हुए शोर के बीच से गुजर रहा हूं।

जब भी मैं

जब भी मैं
हवा में झूलता
बया का घोंसला देखता हूं
मुझे
पेड़ों की ऊंची टहनियों में उलझी
पत्तों के ऊपर ज़ोर लगा कर
भाग जाने की व्यस्तता में
घबराहट व्यक्त करती
मजबूर शामें याद आ जाती हैं।

जब भी मैं
अपने कमरे की खामोशी और बढ़ाने के लिए
कुछ लिखने बैठता हूं
मेरे चारों ओर
मुर्दों के टीले
सिर उठाने लगते हैं
और
मुझे अपने अन्दर
सिर झुकाये
चुपचाप रेंगती हुई
भीड़ का आभास होता है
जिसमें से
मैं स्वयं को गुज़रता देखता हूं

जब भी मैं
सोने का प्रयत्न करता हूं

मेरे कमरे की छत से
अनगिनत कटे सिर लटक जाते हैं
उनमें से एक सिर मेरा भी होता है

दहकते हुए सितारे
आसमान से टूटकर
मेरी चारपायी के नीचे बिछ जाते हैं
और
मेरे शेष अस्तित्व को
भाप बनाकर
दिशाओं में खो देते हैं

जब भी मैं
किसी नदी के
सूने
उदास
पुल पर खड़ा होता हूं
मुझे
अपने कन्धों पर
मृत आत्माओं का बोझ अनुभव होता है
और
लगता है
एक भीषण हिम-युग
मेरे ऊपर से गुज़र रहा है
उस आदिम आग को बुझाना चाहता है
जो मैं हूं।

न जाने क्यों?

न जाने क्यों
लगता है
अकस्मात कट गये हैं

हजारों कपोत-शिशुओं के पंख
और
एक-एक कर गिर रहे हैं
आधी झुकी इमारतों पर
न जाने क्यों?

न जाने क्यों
लगता है
सिमट आये हैं
अघुलनशील
संपृक्त
अमावस्याओं की रातों के दायरे
हमारे कंधों पर
न जाने क्यों?

न जाने क्यों
लगता है
हर सड़क विभक्त हो गयी है
गहरी
चौड़ी—
अलंघ्य—
खाइयों के द्वारा
और
हम सब एक साथ गढ़ गये हैं
बुझी हुई कंदीलों की तरह
उन खाइयों के एक किनारे पर
न जाने क्यों?

न जाने क्यों
लगता है
चारों ओर
बर्फ की नदियों में बाढ़ आ गयी है
और
जम गयी है

हमारी सांसों की ऊष्मा
आदिम गुहाओं के मुहानों पर
न जाने क्यों?

जहां मैं हूं

इंद्रधनुष
जिन्हें तोड़-तोड़ कर
रात मैंने फर्श पर बिखेर दिया था
अभी तक मेरे कमरे में बन्द पड़े हैं।

इस अंधेरे के बाहर
एक और अंधेरा है
जहां मैं हूं

हवा से कह दो
मेरा दरवाजा तोड़ दे
और
फर्श पर पड़े
तमाम इंद्रधनुषी टुकड़ों को
अंधेरे में लपेट कर
कहीं दूर उड़ा ले जाये।

मैं अपनी
पिछली तमाम ज़िंदगियों से अलग
एक और जिंदगी जीना चाहता हूं
जिसे
इंद्रधनुष के टुकड़ों से
अपना अस्तित्व बनाने की जरूरत नहीं

धुएं का शहर

धुएं का है यह शहर
काले

दमघोंटू
विषैले धुएं का

यहां सड़कें
अब चलने लायक नहीं रहीं
आंखें जलती हैं
पानी उगलती हैं
और
दमघोंट कर
चुपचाप आगे निकल जाती हैं

आसमान
किताबों में पढ़ा था
कि
नीला होता है
और गांव में देखा भी था
सचमुच नीला था
लेकिन
यहां काला है
स्याह
अंधेरे की तरह

लोग कहते हैं
इस शहर में
सफेदपोश रहते हैं
लेकिन
जब भी हमने
सफेदपोश बनकर
निकलने की कोशिश की
स्याहपोश बन कर
घर लौटे हैं
पत्नी हंसी है
छोटी बेटी तालियां बजा कर
चिल्लायी है

'पापा भूत
पापा भूत'
लेकिन
क्या पता था
कि
इस शहर का काला भूत
उसी को निगल जायेगा
अब यहां
कोई नहीं चिल्लाता
तालियों की आवाज
कहीं से सुनायी नहीं देती
सिर्फ मैं ही
चीखता हूं
चिल्लाता हूं
अपने भीतर के
गहरे
काले
डरावने
सन्नाटे में
जो मेरे घर में
चारों ओर पसरा पड़ा है।

जब हम
घर से निकलते हैं
काम पर जाने
या
काम तलाशने
तो
घरवालों का एक
डरा
सहमा
होंठो में सिसकियां भींचे हुए
यह विश्वास भी

हमारे साथ निकल पड़ता है
कि
जाने कौन इंनमें से शाम ढले
सकुशल
घरवालों को देख पायेगा
या फिर
घरवालों को ही जाना पड़ेगा
उसे देखने
किसी अस्पताल में
अथवा
श्मशान में!

पता नहीं
यह धुएं का शहर
कब
किसे
कहां
निगल जायेगा
बस
ट्रक
ट्रैक्टर
या
दुपहिया
तिपहिया बन कर
ठीक मेरी बेटी की तरह

यह शहर धुएं का है
भुतहा
काले
दमघोंटू
और
विषैले धुएं का।

कविता के देश में

नरेन्द्र जैन

गिरिजाकुमार माथुर स्मृति पुरस्कार से सम्मानित नरेन्द्र जैन की कविताओं का स्वर उन्हें अपने समकालीन कवियों से अलग करता है।

जब अंधकार में
जलायी गयी मोमबत्ती
कहा एकाएक ज़ोर से मैंने 'शुक्रिया'

शुक्रिया उनका
जो फैलाते हैं प्रकाश इस तरह

उसे लमहा-लमहा पिघलता देख
याद आये वे बच्चे
जो जश्न के दौरान
ढोया किये अपनी पीठ पर
जलते हुए रंगीन फानूस

रोशनी उतनी ही दिव्य रही
जितनी उग्र वह भूख
जो थामे रही सधे हाथों के फानूस

कविता क्या करे
उसके देश में
घटित होता रहता है यह सब

ज्यादातर उजाले
अंधकार से भरे।

□

आज का सूर्य

बालकृष्ण संन्यासी

श्रीनगर में जन्मे बालकृष्ण संन्यासी विद्रोही स्वर के साथ कविता की भाषा में बात करते हैं। 1972 में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, जम्मू-कश्मीर ने इन्हें पुरस्कृत किया।

स्मृतियां आक्रमण पर उतर आई हैं,
घेर रखा है इन्होंने मुझे,
छेड़ रखा है युद्ध,
क्या कर पाऊंगा मैं इनका सम्मान?
करना होगा इनका अतिथि-सत्कार
अन्यथा लड़ना पड़ेगा अकेले में मुझे महायुद्ध।
नहीं है सामर्थ्य मुझ में कि लड़ पाऊंगा युद्ध
शस्त्रहीन हूं शताब्दियों से आज तक,
फिर भी लड़ चुका हूं कई जन्मों में कई बार।
कई आशायें बनकर कई निराशाओं से,
छीन लिये मैंने अपने कई अधिकार,
पर आज का सूर्य नहीं दे सका मुझे, कभी भी पल भर का विश्राम।
अंगारों से बिछा हुआ शहर
नहीं दे पाया मुझे चैन की नींद,
भटकता रहा हूं,
जब से अंधेरनगरी में हुआ है मेरा प्रवेश।

मेरा बीता हुआ कल सुहावना था
मेरा घर था, मेरे घर का प्रांगण था
प्रांगण में ठिठुरता हुआ सूर्य था
शंकराचार्य की पहाड़ी के पीछे से,
डल झील में तैरता हुआ आता था जो मेरे पास।
मांगने पर भर लेता था मैं,
हर प्रभात के आने पर जोगी की झोली
और दे पाता था उसको
दिन भर की धूप।
प्रांगण में मिट्टी के साथ खेल-खेल में
बीत जाता था मेरा दिन
सांयकाल में गाया करता था
दीनानाथ नादिम की 'व्यथ व्यतस्ता'[1]
बहती वितस्ता का पानी
वितस्ता का किनारा,
किनारे पर स्थित
भहोखात्कीश्वर भैरवनाथ ... कल्हण की राजतरंगिनी का एक पष्ठ
स्मृतियां हैं मेरी
नहीं भूल पाऊंगा उन्हें
जब से राजतरंगिनी को बन्दी बनाया गया
तब से कल्हण की आत्मा विद्रोह पर है
नहीं है मुझ में सामर्थ्य
नहीं लड़ सकूंगा अकेले में
स्मृतियों द्वारा छेड़ा गया युद्ध। □

---

1. विख्यात कश्मीरी कवि दीनानाथ नादिम का वितस्ता नदी पर लिखा गया ओपेरा

केरली

कुबेर दत्त

केरल-प्रवास के दौरान प्रतिष्ठित कवि कुबेर दत्त द्वारा शब्दों में बद्ध किए सौंदर्य की कुछ लहरें गगनाञ्चल के पृष्ठों पर उतर आई हैं।

परिणय से परिचर्या तक के
कौशल का अनुप्रास केरली
तेरे दर्शन से छा जाए
तन-मन पर मधुमास केरली।

हरीतिमा की आंधी हो तुम
रंगों का हो झंझावत
विद्युत हो, चेतन धारा हो
ऊर्जा का आवास केरली।

समशीतोष्ण सरोवर में तुम
मधुगंधा-सी नील-कमल हो
खूब शांत हो, खूब चपल हो
ऋतुओं का विन्यास केरली।

देवभूमि का तप हो पावन
निलय धाम हो पार्वती का
शंकर के माथे साजी हो
चंद्रकला-वातास केरली।

रोगी काया तुम को सौंपी
सौंपी अपनी प्रिया उदास
कायाकल्प करोगी उसका
पूरा है, विश्वास केरली। □

इच्छाओं का गीत

विनय विश्वास

साहित्य के आकाश में उन्मुक्त पंख पसारने के आकांक्षी अनेक कवि स्वर उभरते हैं। यही स्वर एक दिन अपनी अलग पहचान के साथ आकाश की दूरियां तय करते हैं। गगनाञ्चल का प्रयास ऐसे व्यक्तित्वों की खोज का रहता है। प्रस्तुत है इसी क्रम में उभरते रचनाकारों—विनय विश्वास, जसवीर त्यागी और सुदर्शन पंडित की कविताएं।

मैं इस दुनिया में ऐसे नहीं रहना चाहता
जैसे पंछी पिंजरे में रहता है
जैसे तिनका नदी में बहता है
जैसे हलक में प्यास रहती है
जैसे बूटों तले घास रहती है
जैसे दंगों में अट्टहास उछलता है
जैसे शहर में हत्या देखकर भी खामोश रहना खलता है
जैसे ईमान की जेब में हर बड़ी जरूरत के लिए रहते हों थोड़े-से पैसे
मैं इस दुनिया में नहीं रहना चाहता ऐसे

मैं तो यहां रहना चाहता हूं इस तरह
जैसे दिल में रहती है अपनों के लिए जगह
जैसे हुक्के की आंच में रहते हैं बड़ों के अनुभव

जैसे हर असम्भव के भीतर ही रहता है सम्भव
जैसे पांवों में रहती है लम्बे सफर की थकान
जैसे पतंगों में रहता है बच्चों का आसमान
जैसे चिड़िया की चहक में रहती है हर अंधे की सुबह
मैं इस दुनिया में रहना चाहता हूं इस तरह

मुझे ऐसे नहीं रहना यहां
जैसे बादलों में रहता हो सूखा-सूखा धुआं
जैसे खेतों में अकाल रहता हो
जैसे दहेज के दाँतों को सम्बन्ध सहता हो
जैसे होंठों में मुस्कान रहती हो दिखने के लिए
जैसे बाज़ार में विश्वास रहता हो बिकने के लिए
जैसे राजनीति में रहते हों गुंडागर्दी के निशां
नहीं, मुझे वैसे नहीं रहना यहां

मुझे तो यहां रहना है यों
जैसे कढ़ी हुई चादरों में लड़कियों के सपने हँसते हों
जैसे पेड़ों पर कोयल रहती हो कंठ में सुर बसाये
जैसे पिता के घर बिटिया उड़ती हो पंख फैलाये
जैसे नालायक बेटे के लिए मां में रहता है दुलार
जैसे भयानक मुसीबतों में इकट्ठा रहता हो परिवार
जैसे घड़े में रहता है कुम्हार का पसीना
वैसे दुनिया में रहूं
तो मेरा जीना भी हो जीना। □

माँ और आग

जसवीर त्यागी

माँ को अंधेरे से सख्त नफरत है
जहां कहीं भी उसे वह दिखता है
झट से रोशनी कर देती है
मैंने मां को अनेक बार
आग के इर्द-गिर्द ही देखा है
सुबह, शाम और देर रात में
मां भोर में उठ, फूंक मार-मारकर
आग से धुआं हटाती रहती है
उसके आँसू बहुत बार
आग पर झरते रहते हैं
फिर भी वह हार नहीं मानती
और. आग जलाकर सबकी आग शान्त करती है
शाम को दिनभर की थकान
उतार फेंकती है आग में
माँ देर रात तक मशाल लिये
सिरहाने बैठी रहती है
हम चैन की नींद सोते रहते हैं
मैं नहीं जानता माँ
तेरा आग से रिश्ता कितना पुराना है
पर हां, इतना जरूर जानता हूं कि
तूने अपनी जिन्दगी के दमकते दिन
इसी आग में झोंक दिए हैं

कभी-कभी लगता है कि
माँ पागल हो गयी है
तुझे आग से बिल्कुल भी डर नहीं लगता?
पता नहीं कितनी बार
जला होगा तेरा हाथ इसी आग में
माँ, मैं यह भी जानता हूँ
तू इसी आग को जलाती-जलाती
खुद ही बुझ जायेगी एक दिन
फिर भी तू कभी माँ
यह आग जलाना क्यों नहीं भूलती? □

ग़ज़ल

सुदर्शन पंडित

सब छोड़ के आ जाएं, ग़र तेरा इशारा हो
कैसे ये मोज्ज़ा हो, कैसा ये नज़ारा हो,

तूफ़ान डुबोता तो, हम डूब भी जाते
साहिल पे डूब जाएं, ये कैसे गवारा हो,

आवाज़ भी उसकी थी, और नाम भी मेरा था
क्यों दिल को नहीं लगता कि उसने पुकारा हो,

हर एक से मिलता है, हर वक्त चहकता है
खामोश-सा हो जाए, जब जिक्र हमारा हो,

न साथ चले कोई, रस्ता ही बता दे
इतना तो कोई कर दे, इतना तो सहारा हो,

हम कत्ल तो हो जाएं, बस शर्त ये होगी
ये खून करे कोई और नाम तुम्हारा हो,

दो घूंट पिलाई और बंद कर दिया मैखाना
इतने में भला कैसे 'पंडित' का गुज़ारा हो।

□

डलहौजी की सड़कों पर

रमेश ऋषिकल्प

"घाटी से उठता हुआ धुआँ ऐसे लगता था जैसे घाटी के बीच किसी महायज्ञ का आयोजन हो रहा हो और यज्ञधूम आकाश की ओर उठ रहा हो। हम यहां आकर विराट के सत्य का साक्षात्कार करने लगते हैं ..." डलहौजी की घाटियों में ऐसे अनेक अनुभवों से परिचित करा रहे हैं युवा कवि रमेश ऋषिकल्प।

जब जीवन की गति इतनी तेज़ हो जाय कि हम उस गति में न कुछ देख सकें, न समझ सकें —और तो और, खुद अपने-आप को भी न पा सकें, तब एक अजीब किस्म का ठहराव हमारे अंदर पनपने लगता है यानी एक सीमा के बाद गति भी ठहराव को जन्म देने लगती है। आज हम महानगर में एक ऐसी ही रफ्तार को जी रहे हैं जिसमें इतना कुछ है कि वह न तो हमारी संवेदना का हिस्सा बन रहा है और न हमारे सोच का। इस तेज़ मशीनी जीवन में अचानक कभी-कभी ठहर जाने का मन होता है। बिल्कुल ठहर जाने का और अपने आस-पास को शिद्दत के साथ महसूस करने का। जून की एक शाम को मोहनसिंह प्लेस के कॉफी हाउस में हम तीन दोस्तों ने अचानक यह फैसला किया कि कुछ दिनों के लिए डलहौज़ी और उसके आस-पास के पहाड़ी स्थानों पर चला जाय। ये दोस्त थे—गोविंद प्रसाद, प्रताप सिंह और स्वयं मैं यानी इस संस्मरण का लेखक।

यह एक ऐसी यात्रा थी जिसमें तयशुदा कार्यक्रम बहुत कम था। दिल्ली से रात को ट्रेन पकड़कर सुबह हम पठानकोट पहुंच गए। यह जून महीने के आखिरी दिन थे लेकिन बरसात शुरू हो चुकी थी। जब हम पठानकोट पहुंचे तो काफ़ी बारिश हो रही थी। इसी

बरसात में भागते हुए एक बस पकड़ी जो शायद डलहौजी के लिए आखिरी बस थी। बस जब डलहौजी के रास्ते पर आगे बढ़ी तो पहाड़ पर चढ़ने का एक अहसास शुरू हो गया। महानगर .की मशीनी रफ्तार प्रकृति के सम्पर्क में आकर अब धीमी होनी शुरू हो गयी थी और बाहरी यात्रा के साथ-साथ अब हमारे अंदर भी एक यात्रा शुरू हो गयी थी। अब हम चीज़ों में से सिर्फ गुज़र नहीं रहे थे, उन्हें देख रहे थे। अब प्रकृति हमारे अनुभव और भाव का हिस्सा बनती जा रही थी। हम लगभग रात को आठ बजे डलहौजी के बस अड्डे पर उतरे तो हल्की-हल्की बारिश हो रही थी और अब हमें रात बिताने के लिए किसी होटल में जगह ढूंढनी थी। बारिश होने की वजह से ठंड हो गयी थी। पीठ पर सामान लादे हम हिमाचल टूरिज्म के 'होली-डे होम' गए जहां प्रताप सिंह के किसी पत्रकार मित्र ने हमारे लिए कमरा बुक करा देने का आश्वासन दिया था पर वहां जाकर मालूम हुआ कि यहां कोई कमरा बुक नहीं है, लिहाज़ा सामान लादे हुए हम फिर नीचे उतरे। अब तक पूरा डलहौजी सुनसान हो चुका था। सब टूरिस्ट इस बरसाती सर्द मौसम में अपने-अपने होटलों में गुनगुने कम्बलों का आनंद ले रहे थे पर हम तीनों मित्र रात को दस बजे ठहरने के लिए जगह ढूंढ रहे थे। अन्ततः एक पहाड़ी लड़के की मदद से 'सागरिका' गेस्ट हाउस में जैसे-तैसे एक कमरा मिला। शुक्र किया कि रात काटने को छत तो मिली। बारिश और बढ़ गयी थी। हम लोगों ने अपने शॉल ओढ़े और व्हिस्की की बोतल और गिलास लेकर बाहर वाले कमरे में आ बैठे। शानदार बैठक जमी और साहित्य-चर्चा शुरू हुई। तीनों ही कविताएं लिखने के मर्ज से ग्रस्त। अज्ञेय, निर्मल वर्मा, मुक्तिबोध, अशोक वाजपेयी—सब पर बातचीत शुरू हुई। गोविन्द भाई का काटा हुआ सलाद सबसे ज्यादा मैं ही खा रहा था क्योंकि शराब मुझसे पी नहीं जाती। शुरूर धीरे-धीरे चढ़ता गया और रात के बारह बज गए। भूख लग रही थी, लिहाजा सुभाष चौक के होटलों का मुआयना शुरू हुआ। देखने में जो होटल सबसे अच्छा लगा, उसी में जा बैठे। खाना खाते वक्त मालूम हुआ कि जरूरी नहीं कि जो होटल देखने में अच्छा लगे, उसका खाना भी अच्छा हो। जैसे-तैसे भूख मिटाई। डलहौजी जैसा खूबसूरत पहाड़, जहां प्रकृति का सौंदर्य फूटा पड़ता है, वहीं मैदान से पहुंचे व्यापारियों की घटिया मानसिकता से एक ओछापन भी ओढ़े हुए है। सच तो यह है कि वहां का असली पहाड़ी आज भी ईमानदार और गरीब है लेकिन व्यापारी पूरे पहाड़ को कब्जाये बैठा है।

डलहौजी के आस-पास जहां टूरिस्टों का हस्तक्षेप अभी बहुत कम है वे स्थल अभी भी पहाड़ के सही अर्थ को उद्घाटित करते हैं। हम तीनों मित्रों ने तय किया कि डलहौजी के आस-पास जहां तक सम्भव हो पैदल घूमा जाय; लिहाजा एक दिन हम लोग गांधी चौक से सुभाष बावली की ओर जाने वाले रास्ते पर हो लिए। पूरा रास्ता देवदार के घने पेडों से भरा हुआ था। साथ में ही गहरी घाटी जिसमें बरसात के दिनों में बादल भरे रहते हैं। यहां

पहुंचकर पहली बार सुमित्रानंदन पंत की इस पंक्ति का वास्तविक अर्थ समझ आया—कि 'पल-पल परिवर्तित- प्रकृति वेश'। हर क्षण प्रकृति अपना रूप बदलती हुई हम वहां देख सकते हैं। हम पाते कि अभी धुंध से भरे बादलों ने हमें घेर लिया है, दूसरे क्षण ही पाते कि धुंध छंट गयी है और देवदार से भरी हुई घाटी साफ हो गयी है। घाटी में से उठता हुआ धुआं ऐसे लगता था जैसे घाटी के बीच किसी महायज्ञ का आयोजन हो रहा हो और यज्ञधूम आकाश की ओर उठ रहा हों। हम यहां आकर विराट के सत्य का साक्षात्कार करने लगते हैं और यहीं आकर लगने लगता है हम किसी परमसत्ता के अंश हैं। इन घाटियों में जाकर मुझे लगा कि मेरे अंदर की प्रकृति बाहर की प्रकृति से एक ऐसा रिश्ता कायम कर रही है जो महानगर में सम्भव ही नहीं है। महानगर जैसे हमें हमारी मूल सत्ता से काटकर एक वस्तु बना रहा है। एक ऐसी वस्तु हम बनते जा रहे हैं जो संवेदना और अपनी वास्तविकता से कोसों दूर है। हम तीनों बहुत जल्दी ही सुभाष बावली पहुंच गए। यहां एक ऐसा प्राकृतिक स्रोत है जो अनंत काल से बह रहा है। लोगों का कहना है कि जब स्वास्थ्य-लाभ के लिए 'सुभाषचंद्र बोस' डलहौजी में ठहरे हुए थे तो हर रोज यहां आकर इस सोते (बावली) का पानी पिया करते थे। इसीलिए यहां की बावली का नाम यहां की जनता ने 'सुभाष बावली' रख दिया। इसी सुभाष बावली से सीधी सड़क करेलनू तक गयी है जो यहां से तकरीबन छह-सात किलोमीटर है। करेलनू तक का रास्ता थोड़ा थका देने वाला जरूर है लेकिन इस सड़क पर घूमना अपने आप में एक अलग चीज़ है। महानगरों की सड़कों पर घूमने वालों के लिए यह एक अलौकिक अनुभव है। जब हम जिंदरी घाट पहुंचे तो सड़क के एक कोने में पहाड़ी ढाबा दिखायी दिया। इन पहाड़ी ढाबों की अपनी ही सुंदरता है। इनमें बैठकर चाय पीना दिल्ली के पांचतारा होटलों को भी फीका कर देता है। यह लकड़ी से बना ढाबा एक पहाड़ी औरत चला रही थी। इसी में उसका घर था। एक कमरे में चाय की दुकान खुली हुई थी और दूसरा कमरा जिंदगी जीने के लिए था। देवदार के पेड़ों से घिरा हुआ यह ढाबा पहाड़ी लोगों और मजदूरों के लिए एक सराय की तरह था जहां ग्राहक और दुकानदार का रिश्ता नहीं था जैसा कि शहरों में होता है। यह एक रिश्ता था जो आदमी का आदमी से होता है। लोग यहां बैठकर चाय पीते, कुछ हल्का-सा खाते और एक-दूसरे में पिरोये हुए संबंधों की चर्चा करते। एक-दूसरे के दुख-सुखों की पूछते। एक-दूसरे के काम भी आते। यहां एक जगह से दूसरी जगह जाने वाले के हाथों दूर किसी गांव में अपना सामान बेखटके भेज सकते थे। हमें अभी और आगे जाना था और हमारे पास सामान भी था। हरेक के पास कुछ थैले थे। हमने दुकान चलाने वाली औरत से कहा कि क्या वह हमारा सामान अपने यहां रख लेगी? हम लौटते वक्त ले जाएंगे। उसने हमारा सामान रख लिया। जब हम करेलनू से शाम को लौटकर आए तो वह औरत हमारा इंतजार कर रही थी। उसे दुकान बंद करके अपने किसी रिश्तेदार के यहां गांव जाना था। वह सिर्फ़ हमारे

सामान के लिए रुकी हुई थी। करेलनू तक की हमारी यह पैदल यात्रा बड़ी रोमांचक रही। जब हम करेलनू पहुंचे तो वहां गांव के पास एक जबरदस्त नाला बह रहा था। करेलनू उन टूरिस्टों को बहुत निराश करेगा जो हर जगह शहरी संस्कृति को ढूंढने की कोशिश करते हैं और प्राकृतिक स्थलों का संबंध महज पिकनिक मनाने से ही कायम करते हैं। शहरी आदमी की सबसे बड़ी परेशानी यह है कि वह यह नहीं जानता कि वह प्रकृति से अपना रिश्ता कैसे पहचाने। इसे पहचानने का नजरिया इतना विकृत हो गया है कि वह हर जगह आइसक्रीम, पैप्सी, कोक, अंकल चिप्स, डोसा और छोले-भठूरे पा लेना चाहता है। यह वह वर्ग होता है जो पहाड़ों पर इस अहंकार के साथ जाता है जैसे वह पहाड़ों पर अहसान कर रहा हो। इसका नतीजा यह होता है कि पहाड़ भी उसकी तरफ़ से आंख मूंद लेता है और इस अभागे वर्ग की पहाड़ों पर जाकर भी पहाड़ से मुलाकात नहीं हो पाती। करेलनू जाने वाले हम ही तीन लोग थे। कोई भी टूरिस्ट वहां बिल्कुल नहीं जाता। जब हम करेलनू से लौट रहे थे तो काली घटाएं घाटी में उतर आई थीं। हम उन घटाओं को छू सकते थे। ये घटाएं किसी मनचली की तरह कभी ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों की छाती पर सिर टिकाकर सो जातीं तो कभी उनसे टकराकर बरस जातीं। कभी पूरी घाटी और लंबे-लंबे देवदार इन घटाओं की चादर में लिपट जाते या कभी ढलते सूरज की कोई किरन पूरे वनप्रदेश को हलके उजास से भर देती। हम तीनों दोस्त इस एक ही किरन पर इकट्ठे फ़िदा हो जाते और किरन शरमाकर पहाड़ की ओट ले लेती। सचमुच कितना सुंदर होता था यह सब!

पैदल चलना इतना अच्छा लगता था कि दूसरे दिन हम तीनों सतधारा होते हुए पंजपुला के लिए चल दिए। इस सड़क पर हम से बहुत पहले मोहन राकेश भी घूमे थे। उन्होंने अपनी डायरी में (मोहन राकेश की डायरी) लिखा है कि 'एक दिन उपेन्द्रनाथ अश्क के साथ हम सब पंजपुला घूमने के लिए चले। रास्ते में सतधारा को देखकर बड़े निराश हुए क्योंकि उन सात पानी की टोंटियों में से सिर्फ एक में पानी बह रहा था।' यही हाल हमारे सामने भी था। देखकर लगता ही नहीं था कि हम 'सतधारा' जैसी जगह पर खड़े हैं। जब हम पंजपुला पहुंचे तो काफ़ी थक चुके थे। यहां शहीद भगतसिंह के आदरणीय चाचाजी की भी समाधि है। पंजपुला जब हम पहुंचे तो भयानक काली घटाएं छा गई थीं। और हल्की-हल्की बारिश शुरू हो चुकी थी। लेकिन पूरा नजारा अद्भुत था। पहाड़ों पर वर्षा ऋतु को देखने का यह मेरा पहला मौका था। पहले मैं सोचा करता था कि वर्षा के दिनों में पहाड़ का आनंद नहीं लिया जा सकता। पर यहां आकर महसूस किया कि वर्षा ऋतु में पहाड़ों पर प्रकृति के जिस रूप से हम रु-ब-रू होते हैं वह मामूली नहीं है। पूरा पहाड़ धुल जाता है और यकायक कालिदास का 'मेघूदत' याद आने लगता है। देवदार, चीड़ और ओक से ढके हुए डलहौजी के पहाड़ हमारे चिंतन की कई परतों को खोल रहे थे। समूचे वातावरण में यदि कुछ व्याप्त था तो सिर्फ़ कविता थी। एक विराट काव्यानुभूति

जैसे इस प्रकृति में समायी हुई थी। प्रकृति का यह मौन व्यापार सुनने वालों के लिए इतना मुखरित था जितना और कोई नहीं हो सकता।

हम डलहौजी के आसपास जहां भी जाते, शाम तक लौटकर गांधी चौक आ जाते थे। डलहौजी में ही पंजाबी के मशहूर कहानीकार मनमोहन सिंह बाबा का शानदार 'मेहर होटल' है। हम अकसर शाम को वहां चले जाते और एक छोटी-सी साहित्य गोष्ठी हो जाती। उनकी कहानी का वाचन होता और फिर लंबी-लंबी बहसें जिसमें क्या कुछ नहीं समा जाता। डलहौजी से आगे की यात्रा मनमोहनसिंह बाबा की सलाह से तय हुई क्योंकि भारत के बड़े-बड़े पहाड़ों को एक पर्वतारोही की हैसियत से उन्होंने कई बार लांघा है। बाबा साहब एक प्रतिष्ठित चित्रकार भी हैं। उन्होंने हमें अपने कुछ चित्र भी दिखाए जिनमें पीर पंजाल की बर्फ से ढकी हुई चोटियां 'वाटर कलर' से बनायी गयी थीं। बाबा साहब कई बार हिमालय की दुर्गम चोटियों को छूकर आ चुके थे, इसलिए डलहौजी और दूसरे पहाड़ी स्थलों की उन्हें काफ़ी जानकारी थी। उनके कहने पर हम डलहौजी से आठ-दस किलोमीटर दूर 'बारह पत्थर' होकर आए। 'बारह पत्थर' पहुंचकर हम लोगों को लगा कि हमें डलहौजी में नहीं रुकना चाहिए था। क्योंकि डलहौजी अपने आप में 'मारुति कल्चर' वालों का 'हिल स्टेशन' बनकर रह गया है जहां हर जगह दिल्ली की विकृत सभ्यता अपने पांव पसार रही है। ये वह नवदौलतिया वर्ग होता है जो लंबी कारों में अपने पूरे कुनबे के साथ पहुंचता है, स्टीरियो की बेहूदा आवाजों से पहाड़ की शांति और सुंदरता नष्ट कर देता है। हम लोग जब 'बारह पत्थर' पहुंचे तो एक ऐसा शांत और तृप्त करने वाला सन्नाटा था जो प्रकृति की सभ्यता को सहज ढंग से अभिव्यक्त कर रहा था। एक अविरल शांति का सुख और चारों ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के देवदार, निर्भयता और काल की अनंतता का अर्थ बतला रहे थे। यहां देवदार के पेड़ों का घना वन था जिसमें देवदार के अलावा न जाने और कितना कुछ उग रहा था यहां।

डलहौजी के आसपास के स्थान देखने के बाद हम लोग खजियार के लिए रवाना हुए। खजियार हमें मनमोहन सिंह बाबा अपनी जिप्सी में छोड़ने गए। उनके सान्निध्य का सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि वहां की जनजातियों से लेकर वहां के रहस्यमय रास्तों तक की जानकारी हमें मिलती रही। खजियार जाते समय उन्होंने रास्ते में एक ऐसी जनजाति का गांव दिखाया जो आज भी गरीबी की रेखा से सबसे नीचे है और हजारों सालों से वे यहां रह रहे हैं। आधुनिकता से आज भी उनका कोई परिचय नहीं है और जो सिर्फ़ वन सम्पदा पर आधारित जीवन से जुड़े हुए हैं। खजियार हम दोपहर बाद तीन बजे के आस-पास पहुंच गए थे। खजियार में प्रवेश करते ही यकीन नहीं हुआ कि हम धरती पर ही हैं। खुद स्विटजरलैंडवालों ने इसे दुनिया का 'मिनी स्विटजरलैंड' कहा है। और ठीक ही कहा है। खजियार का वह हरा-भरा मैदान सैलानियों की सैरगाह है। हम जिस होटल में ठहरे थे

उसके पीछे पहाड़ी खेत थे और पहाड़ की ऊंची चोटी पर किसानों के गांव बसे हुए थे। नीचे से हम उनकी जिंदगी की तमाम हरकतें होटल के पीछे बालकानी में बैठकर देखा करते। सुबह होते ही किसान औरतें पशुओं को चारा डालतीं और बच्चे पहाड़ी खेल खेलते, पुरुष नीचे खेतों में उतर आते। एक अछूता और जिंदगी की सरगम से भरा हुआ जीवन था उनका, जहां वे थे, उनकी सीमित जरूरतें थीं और प्रकृति थी, जीवन का सबसे बड़ा स्रोत। हम घंटों चाय के प्याले लिए यह सब देखते रहते। खजियार के देवदार पांच से लेकर आठ-आठ सौ साल पुराने हैं। प्रकृति के सुंदर प्रांगण में पिकनिक मनाने वाले भी पहुंचते हैं। ये लोग अपनी-अपनी बसों से उतरते ही क्रिकेट खेलना शुरू कर देते हैं। कुछ क्रिकेट खेलते हैं, कुछ खेलने वालों की फोटो खींचते हैं। घंटा-डेढ़ घंटा क्रिकेट खेलने के बाद सब लोग 'पेप्सी' और 'कोकाकोला' पर टूट पड़ते हैं जिसकी क्रेटें वे अपने साथ बसों में लादकर लाते हैं जैसे बिना 'पेप्सी' या 'कोक' पिए खजियार का भला क्या आनंद? खजियार हम एक रात रहे और सुबह चंबा के लिए रवाना हो गए। हमें सुबह जल्दी ही चंबा से आगे भरमौर की लंबी यात्रा करनी थी। चंबा हम सुबह ग्यारह बजे तक पहुंच गए लेकिन हमें चंबा रुकना नहीं था इसलिए चंबा में नाश्ता करके भरमौर वाली बस में बैठ गए।

भरमौर शायद ही कोई टूरिस्ट जाता हो क्योंकि भरमौर चंबा जिला का एक अंदरुनी हिस्सा है हालांकि एक समय में भरमौर ही चंबा जिला की राजधानी था। भरमौर सबसे ज्यादा गद्दियों (गद्दी जनजाति) की निवास-स्थली के रूप में जाना जाता है जो इस इलाके में हजारों साल से रह रही हैं। चंबा से भरमौर का रास्ता काफ़ी रोमांचकारी है। बरसात के दिनों में उफनती रावी नदी के साथ-साथ एक पतली-सी सड़क है जिस पर यातायात चलता है। जरा-सी असावधानी किसी भी वाहन को रावी में ढकेल सकती है। हमसे एक हफ्ते पहले एक जीप रावी में गिर पड़ी थी जिसका भय सवारियों में समाया हुआ था। बारिश की वजह से कई जगह सड़क टूट गयी थी और ऊपर से पहाड़ भी खिसक आया था। भरमौर के इस रास्ते में पहाड़ी दुकानों और ढाबों के अलावा एक-आध जगह पी.डब्ल्यू.डी. के गैस्ट हाउस भी थे। लेकिन ये गैस्ट हाउस अक्सर मिलने मुश्किल होते हैं। काफ़ी देर चलने के बाद 'खड़ा मुख' पहुंचे जहां रावी के विकराल बहाव के साथ ही एक 'बुड्ढा नाला' आकर मिलता है। इन दोनों का समागम इतना भयावह सुंदर लगता है कि देखकर डर लगता है। इस यात्रा को पूरी करके हम भरमौर पहुंचे और जैसे-तैसे वहां के पी. डब्ल्यू डी. गैस्ट हाउस में कमरा हासिल किया। भरमौर पहुंचकर हमें वहां का संपूर्ण जीवन ठहरा हुआ-सा लगा। लोगों के लकड़ियों के घर जिनमें घर का पूरा अहसास दिखाई देता था। शांत प्रवाह जिसमें जीवन एक नयी परिभाषा देता है। हल्की सुहानी धूप और नीचे गहरी खाइयां। ऊपर गद्दियों के गांव थे जिनमें मर्द और औरत सही मायने में जीवन-साथी की तरह दिखाई देते थे। हम यहां दो दिन रहे। पहले ही दिन यहां का एक दर्शनीय स्थल

'चौरासी मंदिर' देखने गए। इसके प्रांगण में छोटे-बड़े चौरासी मंदिर हैं जिनमें दो-तीन मंदिर छठी और सातवीं शताब्दी के हैं पर आज भी उनकी लकड़ी ज्यों की त्यों बनी हुई है। इन्हें देखकर लगता है कि इतिहास अपनी अनेक व्याख्याओं के साथ मौजूद है। हिमाचल की अधिकांश कला मिथकों में सिमटी हुई है। मुझे लगता है कि कला और मिथक एक-दूसरे के पूरक हैं। भारतीय मनीषा में कला आराधना की वस्तु रही है, इसीलिए वह आज भी ज्यों की त्यों जीवित है। जहां कला आराधना की वस्तु न होकर मात्र सजावट और दिखावट की वस्तु होती है वहां वह मरने लगती है। इन चौरासी मंदिरों में एक मंदिर नरसिंह अवतार का भी है। नरसिंह की यह मूर्ति अब तक मिली नरसिंह अवतार की मूर्तियों में सर्वश्रेष्ठ है। यहां कला प्रतिदिन पूजी जाती है इसीलिए यह इतिहास कम, परंपरा ज्यादा बन जाती है। पुरातत्व वाले इन मूर्तियों की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं देते हैं। इनके रख-रखाव की जितनी अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए, उतनी नहीं है। पर यहां के जनमानस में इन देवी-देवताओं का ऐतिहासिक महत्त्व नहीं बल्कि धार्मिक और इसीलिए पारंपरिक महत्त्व है। भारतीय जीवन की यदि सबसे बड़ी विशेषता कोई जानना चाहे तो कहना चाहिए कि वह है रोजमर्रा के जीवन में परंपरा की निरंतरता। यहां की कलाकृतियां सिर्फ़ वस्तु नहीं हैं जैसे पश्चिम में हैं बल्कि वे जीवित स्मृति के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दी गई जीवंत धरोहर है इसीलिए यह हमारे लिए इतिहास की वस्तु नहीं वरन् वर्तमान की जीवंत वस्तु होती है। भरमौर में ही काफ़ी ऊंचा चढ़कर एक पहाड़ पर 'ब्रह्माणी देवी' का एक मंदिर है। यह भी कई सौ साल पुराना है लेकिन यह भी कोई सिर्फ देखने भर की चीज़ नहीं है। गद्दी लोग यहां आकर रात को जागरण करते हैं। उनके लिए यह देवी या ये मंदिर कल की चीज़ नहीं बल्कि नितांत आज की चीज़ हैं। इसीलिए आज वे इसकी आराधना और अर्चना करते हैं। असल में जब हम किसी मूर्ति को पूजते हैं तो हम उसे जीवित कर रहे होते हैं। हम मरी हुई चीज़ कभी पूज ही नहीं सकते। भरमौर के ये अति प्राचीन मंदिर और इन मंदिरों में प्रतिष्ठित देवी-देवता आज भी अपने संपूर्ण चरित्रों सहित वहां के लोगों के संगी-साथी हैं। भरमौर से ऊपर काफ़ी चढ़ने के बाद हम गद्दियों के एक गांव 'मलकोता' में पहुंचे। लकड़ियों से बने बारजे और चौबारों वाले इस गांव में पशुपालन संस्कृति के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। एक भरा-पूरा संघर्षपूर्ण जीवन। गांव के हर घर में संयुक्त परिवार प्रथा आज भी एक जरूरत है। वृद्धाएं और वृद्ध एक भरे-पूरे जीवनानुभव के रूप में घूमते-टहलते दिखाई दे रहे थे। इनका मुख्य व्यवसाय भेड़ों का पालन है। इन घरों के जवांमर्द कई-कई महीनों के लिए हिमालय की बर्फ़ीली चोटियों की तरफ़ भेड़ों को लेकर निकल जाते हैं। पीछे जवान गद्दनें घर संभालती हैं। गद्दियों के इन गांवों में आज भी जीवन बहुत सरल और स्वाभाविक है। सुविधाओं की अपेक्षा इन्हें अपनी जीवन पद्धति अधिक पसंद है। अब धीरे-धीरे नयी रोशनी में आने की कोशिश की जा रही है, पर फिर भी पहाड़ों की ऊंची-ऊंची चोटियों में

बसी इस जनजाति का अपना ही स्वरूप है जिनकी श्रम-संस्कृति आज भी किसी को प्रभावित कर सकती है।

दूसरे दिन भरमौर से हम चंबा के लिए वापस हो लिए। चंबा पहुंचकर पूरा दिन हमने यहां के बाज़ार में घूमते हुए बिताया। चंबा के चोगान के साथ-साथ रावी बह रही थी और चोगान के पार्क में बैठकर लोग फुरसत के क्षण जी रहे थे। चंबा जिला मुख्यालय होने के कारण शिक्षा और प्रशासन का केंद्र है। यह एक छोटा-सा पहाड़ी शहर है जो अपने आप में बहुत खूबसूरत था। इसके आस-पास खुदाई में कई सौ वर्ष पूर्व की दुर्लभ मूर्तियां मिली हैं जिन्हें यहां के संग्रहालय में देखा जा सकता है। यहां से हमें फिर कुछ दिन के लिए डलहौजी जाना था जहां से दिल्ली के लिए हमें रवाना होना था।

यह पूरी यात्रा हमारे सामने समाज और प्रकृति के आंतरिक अर्थों को खोलने वाली थी। वैसे तो हर यात्रा नए अर्थ संदर्भों को खोलती चलती है और व्यष्टि को समष्टि से जोड़ती चलती है और अंदर ही अंदर घर लौटने के लिए भी बैचेन करती रहती है। हम लोग भी खट्टे-मीठे मन से घर लौटे। पर घर लौटकर भी काफ़ी दिनों तक लगता रहा कि अभी हम यात्रा में ही हैं। □

व्यंग्य

उदास गीतों वाला जंगली

ज्ञान चतुर्वेदी

आदिवासियों की समस्याओं पर ध्यान कम दिया गया है, उनको भुनाया अधिक गया है—यह निष्कर्ष है हिंदी के चर्चित व्यंग्यकार डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी का। व्यवसाय से डॉक्टर ज्ञान चतुर्वेदी की कलम सामयिक विसंगतियों पर बेबाक अपनी राय तो व्यक्त करती ही है, साथ ही उन पर प्रहार करने से भी नहीं चूकती है।

आजकल, जहां मौका मिलता है, आदिवासियों की चर्चा किया करता हूं। हमारी तरफ यही रिवाज है कि एक बार कोई बात जोर पकड़ ले तो फिर सभी उसी में लग लेते हैं। आजकल हमारे यहां आदिवासियों ने जोर पकड़ा हुआ है। अभी तक आम राय यही चलती आ रही थी कि आदिवासी लोग पिछड़े हैं और हमें इनको आगे बढ़ाना या ले जाना है। रिवाज यह चला आता था कि हर कोई जब भी मुंह उठाता तो उठाकर यही कहता था कि हमें आदिवासियों का विकास करना है। हम भी कहते थे कि करो, कौन रोकता है? कोई रोकता नहीं था और आदमी बोलता रहता था कि हमें आदिवासी भाइयों को आगे बढ़ाना है। पर तभी हमारे मध्यप्रदेश में, दूर की कोड़ी लाने वाले एक नयी चीज़ लाये कि सारी समस्याओं का एकमात्र हल यह है कि मुख्यमंत्री का पद किसी आदिवासी को दे दिया जाये। आप एक आदिवासी को इस कुर्सी पर बिठा दो, बस। पहले एक ने कहा, फिर सब कहने लगे। परसों गली में मेरी अठन्नी गुम हो गयी, तो वहां खड़े एक पड़ोसी ने यही कहा कि आदिवासी मुख्यमंत्री होता तो तुम्हारी अठन्नी सुरक्षित रहती और यदि अपनी अठन्नियों को सुरक्षित रखना है तो किसी आदिवासी को अपना मुख्यमंत्री बनाना ही

होगा। इस तरह आदिवासी मुख्यमंत्री पर चर्चा जोर पकड़ गयी। हम भी करने लगे। हमारा क्या है। किसी पर भी करा लो। हमें चर्चा से मतलब। सो हवा चल पड़ी। जो मिलता, आपस में यही पूछता कि आदिवासी के विषय में क्या विचार हैं आपके? जिनके जैसे होते, बता देते। न हों, तो भी बता देते। तय करके घर से निकलना पड़ता कि आज इस विषय पर क्या बोलना है।

अब आज का ही किस्सा बताते हैं।

मेरे एक राजनीतिज्ञ मित्र हैं। पिछड़ों तथा आदिवासियों की राजनीति की ही खाते रहे हैं। मिले, तो आदिवासी मुख्यमंत्री की बात आनी ही थी। आई, तो बोले—"ये स्साले आदिवासी ..."

"ऐसा न कहें। आदिवासियों के विकास के लिये तो आप प्रतिबद्ध हैं?"

"प्रतिबद्धता की ऐसी-तैसी यार। प्रतिबद्ध हैं तो क्या ये आदिवासी सुसरे खोपड़ी पै मूतेंगे? बताइये भला। मुख्यमंत्री बनेंगे! इन हरामियों के लिए हमने क्या-क्या नहीं किया है, पर ..."

"खूब किया आपने, परन्तु ये तो दुखी के दुखी ही रहे न, कुंवर साहब ...?"

"काहे के दुखी यार ... खूब खुश रहते हैं स्साले। जंगलों में रहते हैं, दारू पीते हैं और झाड़ियों में औरतों को लिये पड़े रहते हैं। खूब ऐश करते हैं ये।"

आदिवासियों के विषय में बड़ी गलतफहमियां हैं हमें। हमने हमेशा यह माना है कि आदिवासी बड़ा खुश रहने वाला जंतु है। वह बड़े-बड़े ढोल लटकाये, जंगल यहां-वहां नाचता फिरता है, इस डाल से उस डाल पर कुलांचें भरता है, कौड़ियों के सुंदर गहने पहनकर आदिवासिनों के साथ झोंपड़ों अथवा लता-गुल्मों में खुलकर एय्याशी करता है तथा तीर-कमान लटकाये यहां-वहां मटरगश्ती करता घूमता रहता है। ऐसा मानते हैं हम लोग। हम सभी। आदिवासियों के विषय में हमने इतना ही जाना तथा माना है। आदिवासियों के भी कुछ दुःख हैं, आकांक्षाएं हैं, इच्छायें हो सकती हैं—यह हमने कभी नहीं माना। आदिवासी भी कुछ प्राप्त करना चाह सकता है, यह हमारे सोच से परे की चीज़ रही। आदिवासी को चाहिए ही क्या? नंगा आदिवासी, जिसे हमने कैलेंडरों के जरिये जाना, या जिसे गणतंत्र दिवस की परेड में राजपथ पर अधनंगा नाचते हुए देखकर आपस में यह बतियाते हुए समझने का प्रयत्न किया कि यार, देखो, इस देश में भी कैसे-कैसे लोग अभी भी रहते हैं, या जिसे हमने भारत-महोत्सव या किसी ऐसे ही प्रायोजित सरकारी सांस्कृतिक गतिविधि में तमाशा बनते हुए देखा; या जिसके जंगली वस्त्रों तथा सिर पर झालर बांधकर प्रधानमंत्री को उनके साथ उजबक ठुमके लगाते देखकर प्रधानमंत्री पद से जुड़ी मजबूरियों की चर्चा हमने की—वही जंगली आदिवासी कभी इस देश से कुछ मांग भी सकते हैं, यह बात हमें पच नहीं सकती। और यही बात इन आदिवासियों में देखी गयी है। इस देश के

ऐसे प्रबुद्ध कवियों, जिसका अपना एक छोटा-सा संकरा संसार है, तथा राजनीतिज्ञों-अफसरशाही के मिले-जुले गिरोह को, जो सारे देश को अपनी जेब से छोटा समझता रहा है, इस बात से बड़ा धक्का पहुंचा है।

कुंवर साहब उसी धक्के से तिलमिलाकर बात कर रहे थे।

हद है कि आदिवासी आज कुर्सी मांग रहा है!

इधर आदिवासी, वनवासी, दलित तथा पिछड़े लोग यकायक कुर्सी मांगने लगे हैं। मजाक की भी हद होती है। जिस आदिवासी को हमारा मंत्री, सचिव या बड़ाबाबू, चिकने कैलेंडर में बांधकर अपनी कुर्सी के पीछे की रंगीन दीवार पर शोभा की वस्तु बनाकर लटकाये हुए था, यकायक कैलेंडर से निकलकर कुर्सी के ठीक पीछे खड़ा हो गया है और तख्ता-पलट करने पर उतारू है। वह, जो कैलेंडरों में, या डाक बंगले पर बेगार करते हुए, या जंगल में सरकारी जीप पर सवार होकर गुजरते हुए आपको सलाम करता बड़ा भला तथा नयनाभिराम लगता था, यकायक काला-कलूटा, चपटी नाक वाला छंटा हुआ बदमाश लगने लगा है। कुर्सी के पास ही टाइम बम-सा टिक-टिक कर रहा है वह। फटने पर उतारू। विस्फोटातुर। हम जो अभी तक बढ़िया कुर्सी पर बैठकर बढ़िया ही ऊंघ रहे थे, अचानक देख रहे हैं कि आदिवासियों और पिछड़ों की टोलियां राजनीति के तंबू के नीचे एकत्रित हो रही हैं और नाच नहीं रहीं।

ये आदिवासी हंस नहीं रहे हैं। ये आदिवासी नाचते क्यों नहीं? इनका ढोल दिखाई नहीं दे रहा? ये उदास क्यों हैं? ये तो हमेशा हंसने वाले रहे हैं न! ये क्रोधित क्यों हैं? ये दुःखी क्यों हैं? ये अपनी चिर-परिचित पुरानी वाली आदिवासी-संस्कृति को कहां रख आये, जहां आदिवासी का अर्थ ही था नाचना, गाना, नंगे रहना, भूखे रहना, अफसरों को मुर्गे पहुंचाना, डाक बंगले पर महरारू पहुंचाना, सरकारी जीप देखकर झाड़ियों में छिप जाना, फारेस्ट अफसरों के जूते खाना, पेचिश से मर जाना, अकाल में छाल खाना और इन सबके बावजूद खुश रहना। आदिवासी उदास नहीं होता, हमने तो हमेशा यही जाना। हमारे कवि, चित्रकार, फोटोग्राफर तथा कला की खाने वालों ने तो हमें यही बताया था। हम तो खैर स्वयं जंगल तक क्या जाते। पर खूब बेवकूफ बनाया इन लोगों ने हमें। हमें तो ऐसे ही आदिवासी अच्छे भी लगने लगे थे, जो खूब नाचें, खिलखिलायें, नंगे घूमें और अनवरत रिरियाते रहें।

कुंवर साहब मां, बहन से शुरू करके, उपलब्ध सारी गालियां प्रयुक्त करके भी आदिवासी मुख्यमंत्री की मांग करने वाले आदिवासियों के प्रति अपने हार्दिक विचार पूरी तरह प्रकट नहीं कर पा रहे थे कि हमें कार में बैठकर बतियाते देखकर वे आये। वे यानी हमारे चित्रकार और कवि मित्र। हर लाल-बत्ती वाली कार से ऐसा निकट का संपर्क रखने वाले कि कई बार कुचलकर मरते हुए बचे हैं, परन्तु अपने को राजकवि लगाते हैं, सो

लाल-बत्ती की कार की तलाश में कुत्ते-सा भटकते हैं। वे कवि हैं, चित्रकार भी हैं—और इन दोनों विधाओं के जरिये सरकार से पैसा खींचते रहते हैं। इसी सिलसिले में वे लाल-बत्ती वाली कारों से सदैव सहमत रहते हैं। अभी भी यही हुआ। वे बहस में यूं उतरे मानो नाली उतर रहे हैं और तुरंत ही कुंवर साहब के समर्थन में छप-छप करने लगे। उन्होंने अपनी हाल ही में बनायी एक पेंटिंग दिखायी, जिसमें आदिवासी अपनी आदिवासिन के साथ अधनंगा खड़ा हुआ न जाने किस बात पर हंस रहा था। वे बोले—"कुंवर साहब ठीक ही कहते हैं। मैं हमेशा की तरह उनसे सहमत हूं। यह हमारे चित्र में भी देखिये कि ये होते हैं आदिवासी और उसके ठाठ। और आप कहते हैं कि आदिवासी दुखी हैं। काहे का दुख? मजे मार रहा है वह। देखो।" वे पेंटिंग लहराते बोले। फिर उन्होंने अपने कुरते की लंबी जेब से अपनी कविता की डायरी निकालकर आदिवासियों पर लिखी अपनी कविता सुनाई जिसमें कोई किसी से पूछ रहा था कि यह हिरण-सा कुलांचे मारता, क्षितिज को अपने पैने तीरों से बांधता, जंगल की हरीतिमा में बिजली-सा कौंधता और इसी तरह की अन्य दीगर हरकतें करता कौन जा रहा है?

हद है यार। कविता में झूठ बोलने की भी सीमा होनी चाहिए।

यह आदिवासी, जो आज कुर्सी मांग रहा है, वह हमारी कविताओं, पेंटिंग्स तथा कैलेंडरों में कैसा प्रसन्न तथा भोला नजर आता था। खूब बेवकूफ बनाता रहा वह हमें। या हमारे कवि तथा चित्रकार ही हमें छलते रहे? पर बड़े भाते तथा भरमाते थे हमें अपनी कविताओं में कुलांचे तथा कुदक्कड़े मारते ये आदिवासी। मुझे अपने कवि-मित्र जब्बार ढांकवाला की एक कविता याद आती है, जिसमें उन्हें भी यही गलतफहमी हुई है कि आदिवासी कभी उदास नहीं होता। उनकी सुंदर कविता में आदिवासी के बारे में झांसा कुछ यूं दिया गया है कि :

> वे लोग कविता नहीं लिखते
> मगर गुनगनाते हैं अक्सर
> मानस में उग रही कविता को
> ....
> वे हरदम हंसते हैं।
> वे हरदम गाते हैं
> जंगल से भरे
> हरे-भरे गीत।
> उदास गीत नहीं हैं उनके पास।

बस कुछ ऐसी ही अफवाह रही है आदिवासी के बारे में, कविता में। चित्रकारों ने

भी खूब बेवकूफ बनाया सरकार को कि उदास है ही नहीं अपना आदिवासी।

"देखिए, अपने आदिवासी भाइयों पर हमें गर्व है। हमें अपने आदिवासी भाइयों को मुख्य धारा में लाना है। आदिवासी संस्कृति की रक्षा के लिए हम कटिबद्ध हैं ..." ये तथा ऐसे चिरपरिचित पिटे जुगलों द्वारा कुंवर साहब अपना आदिवासी प्रेम प्रकट कर रहे थे, जिसकी तारीफ़ में हम 'वाह-वाह' किये जा रहे थे। कार चली जा रही थी। हम आदिवासियों पर अपनी बात किये जा रहे थे, जिसमें बार-बार यह बात आ रही थी कि यदि ये स्साले अपने आदमी को मुख्यमंत्री बनाने पर तुल गये तो कैसे इन हरामियों की अक्ल ठिकाने लगायी जायेगी, पर यह बात भी बार-बार आई कि हमें अपनी आदिवासी-संस्कृति पर गर्व है।

अपने यहां यही है। हमारे देश का बड़ा इलाका आदिवासी क्षेत्र है। यहां, जाहिर है आदिवासी रहते हैं। और हमें इन पर गर्व है। हमारे यहां यूं भी हर बात पर गर्व करने का रिवाज है। हमें स्वयं ही पता नहीं रहता कि हम कब, किस बात पर गर्व करने पर तुल जायें। वैसे अपने आदिवासी पर हमें लंबे समय से गर्व चला आया है। आदिवासी-संस्कृति हमारी पहचान का अभिन्न हिस्सा है—यह कहने का अवसर हम तलाशते रहते हैं। साथ ही हमें शक है कि आदिवासी देश की मुख्यधारा से कटा हुआ है और हम कटिबद्ध हैं कि हमें अपने आदिवासी को मुख्यधारा से जोड़ना है। पर हम उसे आदिवासी बनाये रखकर ऐसा करना चाहते हैं। हमें उसकी पहचान की चिंता है। हमें आदिवासी-संस्कृति की रक्षा भी करनी है और इसे बनाये रखते हुए मुख्यधारा में डुबकी भी दिलानी है। हम उसे मुख्यधारा में घसीटकर, इसमें फिर उसे भलीभांति धो-फींच कर, वापस उसी आदिवासी संस्कृति की अलगनी पर टांग देना चाहते हैं। हमने ऐसा किया भी है। हम उसे 'आदिवासी-मेकअप' में शहर की मुख्यधारा की सड़क पर लोककला दिखाने बार-बार भोपाल से लेकर दिल्ली तक लाये हैं। इस चक्कर में आदिवासी अपनी संस्कृति की खूंटी पर झूलता हुआ मुख्यधारा में भीगा चिथड़ा बनकर रह गया है, जिस पर हमें पुनः गर्व है। हमें ऐसे आदिवासी पर हमेशा ही गर्व रहेगा, जो न उधर का रहा, न इधर का। लटके हुए आदिवासी का क्या कहना—मुंह मुख्यधारा में, तो टांगे जंगल में, या शरीर मुख्यधारा में तो आत्मा जंगल में। इस साले पर हमें यूं ही गर्व थोड़े ही है। है कोई बात इस पट्ठे में।

कार जा रही है। हम तीनों उसमें गर्व करते चले जा रहे हैं। यकायक कुंवर साहब ने ड्राइवर को गाड़ी उधर से ले चलने को कहा, जहां धुर्वे जी रहते हैं। धुर्वे जी, भेड़िया, भूरिया, साव और न जाने कितने आदिवासी विधायक हैं, जिन पर कुंवर साहब को गर्व है। ये कुंवर साहब की लाबी के आदिवासी प्रतिनिधि हैं, जो देश में व्याप्त जंगल-राज को जंगल तक पहुंचाने के बिचौलिये हैं। धुर्वेजी मिले। कुंवर साहब के पैर छुए उन्होंने। पैर छूने वाले आदिवासी पर कुंवर साहब को हमेशा ही गर्व रहा है। हम लोग बैठक में जम गये। बैठक की शानदार दीवारों पर आदिवासी मुखौटे, एक कोने में टेरीकोटा का घोड़ा और

एक दीवार पर चटाई लटकी है। यह सब ताम-झाम यह बताने का प्रयत्न है कि हमारा आदिवासी विधायक अपनी संस्कृति के प्यार में मरा जा रहा है। पान-तंबाकू हुआ। पान के साथ मुंह चला और हमारी आदिवासी चिंता की बातचीत आगे बढ़ी। धुर्वे जी से बेहतर इस प्रश्न पर कौन राय देगा कि आदिवासी मुख्यमंत्री बनना चाहिए अथवा नहीं? वे पिछले बीस वर्षों से आदिवासी प्रतिनिधि बनकर विधानसभा में बैठे हैं। कुंवर साहब उनके आका हैं। वैसे, आदिवासियों के हित में उनकी राजनीति यहीं तक सीमित रही कि जहां कुंवर साहब ने इशारा किया, वहीं, वैसा हाथ इन्होंने उनके समर्थन में खड़ा कर दिया। जंगल को वे अब जंगलियों के रहने की जगह मानते थे, और राजधानी में आलीशान बंगला खींचकर, मुख्यधारा में गले-गले तक डूबे रहते थे। उनसे मैंने पूछा तो वे बोले कि "यह सारी फिजूल की बहस है। हम आदिवासी ससुरे नालायक और बेसऊर—हम क्या जानें कि राज कैसे करना, क्या करना! राज तो कुंवर साहब लोग करते रहे हैं और करते रहेंगे।" यह कहकर वे जोर से हंसे और पान से बीभत्स हुई खींसें निपोरकर बोले, "और हमें कुर्सी पर बिठा भी दो, तो राज तो तब भी कुंवर साहब का ही रहने वाला है।" फिर वे आंख मारकर बोले, "कुछ पियेंगे—सुल्फी-उल्फी या कहिए तो स्कॉच निकलवायें?"

"यार, आप स्वयं आदिवासी हैं और फिर भी उनको बेवकूफ मानते हैं?" मैंने कहा।

"हम उनको बेवकूफ नहीं मानते। हम उन्हें उल्लू का पट्ठा मानते हैं!" कुंवर साहब ने बहस का सूत्र बीच में ही पकड़कर कहा, "माना कि आदिवासी .., तिया होता है, परन्तु हमें उस पर गर्व है।"

"क्या इसी कारण गर्व है कि वह ... तिया है?"

"हम यह नहीं बता पायेंगे। हम इतने ... तिये नहीं हैं।" कुंवर साहब ठठाकर हंसे और धुर्वेजी की पीठ पर धौल मारकर बोले, "ऐसी बातें तो ये कहेंगे। इन बातों को कहने के प्रवक्ता ये हैं हमारे ..."

"इसमें कहना क्या? हम आदिवासी हैं ही ..." धुर्वेजी ने मौज में आकर कहा।

मैं जान गया। आदिवासियों का एक तबका ये आदिवासी प्रतिनिधि भी तो हैं। ये हमसे भी ज्यादा आदिवासियों को जंगली मानते हैं और बेवकूफ बना सकते हैं। वे आदिवासी की रग-रग पहचानते हैं। आदिवासी के मन को, उनके भय को खूब जानते और भुनाते रहते हैं वे। वे स्वयं भी कभी आदिवासी थे। इस बात पर वे शर्मिन्दा भी रहते हैं और गर्वित भी। वे अब आदिवासी प्रतिनिधि हैं। वे विधायक हैं। वे सांसद हैं। वे बंगलों की तलाश में हैं। उन्हें बड़ी कार चाहिए। वे सलाम चाहते हैं। वे मुर्गा तोड़ते हैं। रात में उनको छोकरी होना। वे राजनीति की मुख्यधारा के कीचड़ में, अन्य सुअरों के साथ छप-छप करने में व्यस्त हैं। वे आदिवासी होने की खा रहे हैं, यद्यपि वे अब कहीं से भी आदिवासी नहीं रहे। वे अब किसी गैर-आदिवासी की रेवड़ मात्र बनकर रह गये हैं। मुख्यधारा तक

गा-बजाकर लाया गया, रंगा-पुता आदिवासी, भारतीय राजनीति में मात्र तमाशे की चीज़ बनकर रह गया। वह किसी की जेब में पड़ी अठन्नी बन गया। इस तरह राजनीति और अफसरों के बीच, हमारा आदिवासी मात्र मुर्गा, कड़कनाथ और महरारू का इंतजाम करने वाला बनकर रह गया या स्वयं ही मुर्गा बन गया, राजनीति के महाभोज में। आदिवासी-विधायक, आदिवासी-सांसद तथा आदिवासी-मंत्री में उतना ही आदिवासी पाया जा सकता है, जितना महात्मा-गांधी मार्ग में महात्मा गांधीजी। भारतीय राजनीति में आदिवासी संज्ञा नहीं, एक विशेषण बनकर रह गया है, जिसका चालक इस्तेमाल करके तिकड़मी लोग भोपाल से दिल्ली के बीच का चोर दरवाजा खोलकर, पीछे से महल में घुस सकते हैं।

हम पान खाते, चबाते, थूकते, निगलते, उगलते हुए आदिवासी पर चर्चा करते रहे। तात्पर्य यह कि खासा गाली-गलौज चलता रहा और धौल-धप्पे का माहौल रहा। फिर तय हुआ कि धुर्वे जी मुर्गा बना पायेंगे और आज की रात खूब छनेगी। रात उतर रही थी। धुर्वे जी ने अपने घरेलू नौकर को बुलाया जो आदिवासी ही था। वह देर से आया, तो दो थप्पड़ रसीद करके उन्होंने कहा कि "तें रहा आदिवासी का आदिवासी ही!" फिर हमारी तरफ मुखातिब होकर गर्व और हिकारत की मिली-जुली बोली में बोले कि है यह जंगली जैसे कि और आदिवासी होते हैं, पर मुर्गा बड़ा शानदार पकाता है और विकट नाच नाचता है। तय हुआ कि स्कॉच और मुर्गे के साथ आज इसका नाच भी होगा।

यह सब हो रहा था कि अत्रे जी आ गये।

अत्रे जी—अपने संस्कृति तथा कला के सचिव। आई.ए.एस. हैं, पर आदिवासी कला तथा संस्कृति में जीवन खपा दिया और इसी के चलते खासा कैरियर बना लिया। साहित्य, संस्कृति, कला, लोककला आदि के नाम पर सरकार तथा साहित्य दोनों को चूना लगाने को प्रतिबद्ध। आदिवासियों के विशेष प्रेम। उनके नाम पर कोई न कोई आयोजन राजधानी में ठोंकते रहे हैं और हर बार ठीक-ठाक रकम बना लेते हैं। वे कुंवर साहब को आदरपूर्वक प्रणाम करके आदिवासी विधायक से प्रेम से बगलगीर हुए और मुझे नजरअंदाज करके आदिवासी भृत्य से आत्मीयता दिखाकर बोले, "कैसे हो, भुरुसु जी?" बिना उसके जवाब की प्रतीक्षा के वे कुंवर साहब से पूछने लगे," फिर आ रहे हैं न आदिवासी कला-बीथि के प्रोग्राम में आज रात?"

संस्कृति वालों की इसी अदा का मैं कायल हूं।

करते रहते हैं कुछ न कुछ। सतत एक जुगाड़ की तलाश। फिर हमारे मध्यप्रदेश में तो संस्कृति का सारा खेल ही आदिवासी के मजबूत कंधों पर टिका है। आदिवासी, भले ही जंगल काटने या बांध की डूब में आकर जंगल से बेदखल होकर बेघर हो गया, पर आदिवासी संस्कृति के नाम पर भवन खड़े हो गये। जीप अलॉट हुई। कार का डोल बैठा। बंगले का जुगाड़ बना। बजट सेंक्शन हुआ। खाने के अवसर बने। और साहब आदिवासी-

संस्कृति का वो जलवा हुआ कि क्या कहने! एक बार तो हम जैसों तक का मन हुआ कि कपड़े उतारकर तथा जैसी भी पोशाक इन संस्कृतिवालों ने आदिवासी की अधिकृत पोशाक मानी हो, वैसी पहनकर आदिवासी बन लिया जाये और सरकार से पैसे खींचे जायें। पर तभी पता चला कि यह पैसा आदिवासी-संस्कृति के नाम पर जरूर है, पर आदिवासी को नहीं मिलेगा। इसे खाने के लिए आपको अफसर बनना होगा। सही भी है। पैसा मिला, तो आदिवासी संस्कृति नहीं बचेगी। इस संस्कृति का तो मूलमंत्र ही गरीबी और भुखमरी है। उसे बचाते हुए हमें आदिवासी संस्कृति को बढ़ावा देना है। हमने दिया भी। जंगल से आदिवासी कलाकारों को उठाकर दिल्ली-भोपाल की सड़कों पर नचवा दिया। कौड़ियों की उजबक मालायें लटकाये पहुंच गये नंगे पैर ही दिल्ली और चार दिन तक खूब नाचे, यहां वहां। पी.एम. ने खुद पीठ थपथपाई कि अत्रे, कैरी, इन आन। वी हैव टू प्रिजर्व दी नेटिव कल्चर एट एनी कोस्ट। किसी भी कीमत पर। बजट अपने बाप का। मैदान में बिठा दिया सालों को कि भैया नाचो, या बनाओ तस्वीरें-टोकरियां-बांस का सामान और करो तमाशा अपने इन शहरी देशवासियों के बीच, जो तुम्हें अपने देश का तो क्या, इस ग्रह का भी नहीं मानते।

कुंवर साहब ने पूछा, "कहां आने की पूछ रहे हैं, अत्रेजी?"

अत्रेजी रूठकर खुशामदी लय में बोले, "आज के फंक्शन की बात हुई थी न आपसे?"

"यार, तुम रोज तो कुछ न कुछ करते रहते हो। कोई कब तक याद रखे। आज क्या कर रखा है?" कुंवर साहब ने पूछा।

"आज तो अपनी आदिवासी कला-बीथि में आदिवासी कलाकार जनता के सामने सीधे ही अपनी कला को रचना-प्रक्रिया प्रदर्शित कर रहे हैं। टोकरी-सोकरी, घोड़े-वोड़े, चित्र-इत्र वहीं लोगों के सामने बनायेंगे। साथ में नाच-गाना तो उनका चलता ही है। आपको पता ही है, बिना नाचे ये कुछ नहीं कर पाते।"

"यार, हम न आ सकेंगे।"

"आपके बिना कैसे होगा? आदिवासी कलाकारों को आपका आशीर्वाद चाहिए।"

"वह खूब है। जितना चाहिए लीजिए, पर आज हमारा यहां धुर्वेजी के बंगले पर मुर्गा-उर्गा का तय हुआ है, सो ..."

"वह सब तो वहां भी है, सर!"

"वहां तो तू वही साग-पूड़ी छनवा देगा ..."

"साग-पूड़ी है उन आदिवासी कलाकारों के लिए ...। आपका इंतजाम अलग है। बढ़िया जानीवॉकर निकाली है। चलिए तो सही!"

थोड़ी बहस के बाद तय पाया गया कि आज का मुर्गा तथा दारू यदि आदिवासी-बजट में से हो जाये, तो बुरा नहीं है। आदिवासियों के लिये चिंतित लेखक, कवि, चित्रकार, अफसर और राजनेताओं का उन पर इतना तो अधिकार बनता ही है।

रात उतर रही थी। दो लाल-बत्ती वाली कारें आदिवासी कलाबीथि की दिशा में दौड़ी जा रही थीं। कौन कहता है कि जमाना नहीं बदला है। शरद जोशी की जीप पर सवार होने वाली इल्लियां आज कार में जा रही थीं। और इल्लियों में यही बात तो खास है कि वे जीप पर हों, या कार में—वे जानती हैं कि उन्हें कौन-सी फसल खानी है। □

नवें दशक की हिंदी कविता

प्रस्तुति : अजित कुमार
सहभागी : डॉ. केदारनाथ सिंह, गिरधर राठी

हिंदी के तीन वरिष्ठ रचनाकार—केदारनाथ सिंह, अजित कुमार और गिरधर राठी नवें दशक की कविता पर बातचीत करने के लिए एकत्रित होते हैं परंतु बातचीत कविता के व्यापक फलक पर फैल जाती है। नई कविता, कविता के आंदोलनों, विभिन्न पीढ़ियों के कवि-कर्म, आधुनिक गीत आदि विषयों पर एक गंभीर और सार्थक चिंतन से युक्त तथा सामाजिक सरोकार से जुड़ी विचार-शृंखला को पिरोकर अजित कुमार ने एक महत्त्वपूर्ण रचना के रूप में प्रस्तुत किया है। सोचने वाली बात यह भी है कि नवें दशक की कविता को लेकर उठाए गये सवाल आज भी उतने ही प्रासंगिक नहीं हैं!

अजित कुमार : बीसवीं सदी का नवां दशक, इस अवधि की हिंदी कविता के बारे में कुछ बातचीत करने के लिए, उस पर एक निगाह डालने के लिए, हमारे दो कवि-मित्र हमारे साथ मौजूद हैं। अध्यापन और समाजशास्त्रीय अध्ययन से जुड़े होने के बावजूद, ये दोनों प्रथमतः और अंततः कवि हैं: डॉ. केदारनाथ सिंह और श्री गिरधर राठी।

दरअसल, इन दस वर्षों में या इनसे कुछ अधिक वर्षों में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से, संकलनों के माध्यम से, कविता-संग्रहों के माध्यम से, हजारों पृष्ठ की कविता की सामग्री—चालीस-पचास हज़ार

पृष्ठ की सामग्री—ज़रूर सामने आई होगी। थोड़ी-सी देर में उस सब सामग्री को जांच सकना, उसका ब्यौरा दे सकना, उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह सकना मुश्किल है। लेकिन हम इस बात की कोशिश जरूर कर सकते हैं कि उसकी कुछ विशेषताओं के बारे में, उसकी मुख्यधारा के बारे में, उसकी केंद्रीय पहचान के बारे में चर्चा करें। केदार जी, आरंभ में, इस संबंध में आप क्या कहना चाहेंगे?

केदारनाथ सिंह : अजित जी, ऐसा है कि कविता या साहित्य की किसी भी विधा पर दशकों में बांट कर कोई बात नहीं हो सकती। इस प्रकार के शीर्षक दिए जाते हैं तो केवल एक कामचलाऊ सुविधा के लिए दिए जाते हैं और इसी रूप में हमको लेना चाहिए क्योंकि हम-आप जानते हैं कि साहित्य में जो विकास का क्रम होता है, उसमें बहुत-सी 'ओवरलैपिंग' होती है, अंतर्धाराएं कई बार टकराती हैं और इस तरह से कई बार एक दशक की प्रवृत्ति दूसरे दशक में बढ़ती फैलती चली जाती है। तो एक तो हम बहुत स्पष्ट रूप से नवें दशक की सीमा का निर्धारण करके कोई बातचीत करेंगे तो शायद वह बात पूरी नहीं होगी। दूसरी बात आपने यह कही कि इस बीच बहुत सारा रचनात्मक साहित्य कविता के नाम पर आया है और छपा है। उस सबके बीच से गुज़रने का दावा हम नहीं कर सकते—मैं नहीं कर सकता। मैं समझता हूं कि सारा कुछ हमने देखा भी नहीं है। लेकिन कविता के नाम पर जो महत्त्वपूर्ण लिखा जा रहा है हिंदी में, और जो मुख्य धारा कविता की है, उससे हम परिचित हैं। और जाहिर है कि जब इस प्रकार की बातचीत हम करते हैं, तो उस मुख्य धारा को निगाह में रखके, केंद्रमें रख के बातचीत करते हैं। इसलिए हम यह मानकर चलें कि इस कविता की मुख्यधारा है जो अचानक नवें दशक में प्रकट हुई हो—ऐसा नहीं है, वह धारा किसी हद तक पहले से चली आती धारा है। नवें दशक में उस धारा में कुछ नई चीज़ें जुड़ीं। जो नई चीज़ें जुड़ी हैं, उनको अलग से रेखांकित करने की ज़रूरत है। लेकिन केवल इतना संकेत कर दूं कि नवें दशक में कम-से-कम कविता की तीन पीढ़ियां तो रचनारत हैं ही। और इन तीनों पीढ़ियों का कथित साम्य है। इन सबको (ध्यान में) रखके हम कोई बातचीत कर सकते हैं। मैं समझता हूं कि वे जो तीन पीढ़ियां हैं, यानी एक धारा में त्रिलोचन की पीढ़ी है, उसके बाद कुंवर और रघुवीर सहाय की पीढ़ी है, उसके बाद एकदम नए लोग आए हैं—गिरधर जी यहां बैठे हुए हैं, मंगलेश डबराल हैं, प्रयाग ...

उसके बाद एकदम नई पीढ़ी उभरती दिखाई पड़ रही है जो बहुत चर्चित नहीं है लेकिन कुछ नाम उभरकर आए हैं, उनकी भी चर्चा हमको करनी होगी।

अजित कुमार : केदार जी, आपकी टिप्पणी से मोटे तौर से मैं सहमत हूं लेकिन राठी जी से उसके एक पक्ष के बारे में मैं थोड़ा-सा स्पष्टीकरण चाहूंगा। केदारजी ने यह कहा अभी कि हम इस अवधि की—या दस-पंद्रह-बीस वर्षों की—जो मुख्य धारा है, उससे परिचित हैं। लेकिन सवाल यह है कि इस अवधि में बहुत तरह की कविता हमारे सामने आई है। शंभुनाथ जी ने इसी दशक में 'नवगीत-दशक—1, 2, 3' निकाले, फिर 'नवगीत अर्धशती' नामक एक और पुस्तक निकाली। इसी दशक में हिंदी की प्रगतिशील कविताओं का प्रतिनिधि संकलन निकाला और जो बिल्कुल नए कवि हैं, 'भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार' से जिनको सम्मानित किया गया—पिछले दस वर्षों में पत्र-पत्रिकाओं में उनकी प्रकाशित सबसे अच्छी कविता का चुनाव केदार जी और अन्य मित्रों ने किया—उनका भी संग्रह 'उर्वर प्रदेश' नाम से निकला है। तो ये तरह-तरह की धारा हैं। हम यह भी देखते हैं कि हमारे बहुत पहले के कवि रामविलास जी का कविता-संग्रह भी इस बीच में निकला है, जिसमें उनकी सन् चालीस के आसपास की कविताएं संकलित हैं, बहुत से अन्य लोगों के संचयन निकले हैं। तो इन सबमें से कविता की मुख्य धारा की पहचान हम कैसे करें? राठी जी, इस संबंध में आपका क्या विचार है?

गिरधर राठी : अजित जी, मुख्य धारा की पहचान इस बात से भी होगी कि क्या है और क्या नहीं है। मुख्य धारा में क्या नहीं है, शायद इसे भी जानना बहुत ज़रूरी है। मसलन, 'दूरदर्शन' पर सुबह नाश्ते के साथ जिस तरह की कविता परोसी जाती है—हिंदी कविता, वह मुख्य धारा की कविता नहीं है क्योंकि मुध्य धारा की कविता चुटकुलेबाज़ी या बहुत जटिल सवालों का बहुत सरलीकारण और बहुत ही भोंडा प्रस्तुतीकरण नहीं है। इसी तरह, मुझे लगता है कि जो चटकीली-चमकीली पत्र-पत्रिकाओं में कविता छपती है, उनमें भी मुख्य धारा की कविता शायद ही कभी मिले। जैसा कि आपने अभी संकेत किया कि 'भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार' के लिए जिन कवियों की कविताएं चुनी गईं, वे छोटी-छोटी पत्रिकाओं में छपी कविताएं हैं। तो मुख्य धारा की कविता दुर्भाग्य से विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों और स्कूलों में भी नहीं है। कुछ अपवाद मिल जाएंगे—नाम के लिए—आपको उन दो-तीन पीढ़ियों के, जिनका जिक्र केदारनाथ जी

ने किया। उन कवियों की कुछ कविताएं पाठ्यक्रम में रखी हुई मिल जाएंगी। लेकिन आप खुद बहुत दोनों ही अध्यापन में इतने अनुभवी हैं, आप भी देखते होंगे कि जो कुछ नया आता है साहित्य में, पिछले तीस-चालीस-पचास साल में, उसको शुरू से—जहां हम पाठक, श्रोता और भावक तैयार करते हैं, उन तक—पहुंचाने की कोशिश बहुत ही कम हुई है हिंदी में। लिहाज़ा, पाठ्यक्रम में भी जो अधिकांश कविता हैं, वह एक बहुत ही मामूली परिचय के साथ मुख्य धारा से भले ही जुड़ जाय, लेकिन वह कविता अक्सर वह कविता है जो आज से साठ साल, पचास साल पहले लिखी गई थी। लिहाजा, जो मुख्य धारा की कविता नहीं है, अगर उसको आप ध्यान में रखें तो आप पाएंगे—जैसा कि केदार जी ने अभी कहा—कि तीन या चार पीढ़ियां हिंदी की इस समय लिख रही हैं कविता में। साहित्य की दूसरी विधाओं में भी (वे) लिख ही रही हैं और इनमें न केवल उनके अनुभव, उम्र का, और उनकी अपनी उपलब्धियों का प्रतिफलन देखा जा सकता है बल्कि उनके, एक के बाद दूसरी जो पीढ़ी आई, उसने उस कविता में क्या-क्या परिवर्तन करना चाहा, यह भी देखा जा सकता है। तो, हिंदी कविता को, आज की हिंदी कविता को, देखने का एक सबसे अच्छा तरीका तो यही होगा कि उन सब उपलब्धियों को और उन परंपराओं को ध्यान में रखते हुए, उन नई चीज़ों को या नई प्रवृत्तियों को रेखांकित किया जाय जो इधर पिछले दस-पंद्रह-बीस वर्षों में आई हैं। चलते-चलते मैं यह भी कहना चाहूंगा कि साहित्य में आंदोलनों का दौर समाप्त हो चुका है और मेरा ख़याल है कि लगभग पंद्रह-बीस वर्षों में हिंदी साहित्य में कोई बड़ा आंदोलन नहीं चला है। अगर आंदोलनों के नाम पर कुछ प्रवृत्तियां बाक़ी भी रही हैं तो वे पुराने आंदोलन हैं जो किसी तरह घिसटते चले आ रहे हैं।

अजित कुमार : केदार जी, देखिए, मैं तो राठी जी की बात से, भीतर से, सहमत होना चाहता हूं लेकिन चूंकि माध्यम का प्रश्न उठा है और पत्र-पत्रिकाओं में—जो व्यापक प्रसार की पत्र-पत्रिकाएं हैं, उनमें—छपनेवाली कविताओं का सवाल इन्होंने उठाया है, तो मैं समझता हूं कि एक प्रश्न पर हमको विचार करना चाहिए कि मुख्य या केंद्रीय क्या है और हाशिये पर क्या है?

देखिए, नई कविता के ऊपर बहुत बार यह आरोप लगाया गया कि एक तो उसको पढ़ने की सपाट शैली के द्वारा, दूसरे उसमें गद्यात्मकता के विन्यास और समावेश के द्वारा, तीसरे उसको कुछ बहुत ही सीमित

वर्ग के लिए सुलभ बनाने के द्वारा, धीरे-धीरे कविता के पाठक-वर्ग को बहुत ही संकीर्ण कर दिया गया है। और—इस आरोप के तहत—बहुत बार तो, शुरू में लोग कहते थे कि कविता केवल 'पढ़ने' की चीज़ है, कविता 'सुनने' की चीज़ नहीं है। ये बातें ऐसी थीं जिन्होंने हमारी नई कविता के सारे-के-सारे विस्तार को बहुत हद तक, बहुत समय तक, सीमित किया। अभी एक पुस्तक में मैं पढ़ रहा था : एक विदेश में हमारे हिंदी-भाषी श्री इंदुकांत शुक्ल रहते हैं और देश-विदेश की आधुनिकतम कविता से वे परिचित हैं, उन्होंने अपने एक पत्र में एक बात लिखी, वह मैं आपको सुनाता हूं। वे कहते हैं : "हिंदी की विडंबनाएं निस्सीम हैं, सबसे बड़ी विडंबना यह है कि छान्दसिकता में असमर्थ लोगों ने छंद को ही काव्य से बहिष्कृत कर दिया, अपनी असमर्थता को छंद पर आरोपित किया। इस पर ब्रेख्त की एक कविता की पंक्ति याद आती है : 'यदि जनता वोट न दे तो उसे उन्मूलित या एबॉलिश कर दो।' "

अमरीका में एक आलोचक हुए हैं, जिन्होंने एक नया विचार सामने रखा है। वे कहते हैं कि फुटपाथ पर जो कविता या साहित्य बिक रहा है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण साहित्य है, उसके प्रति उपेक्षा लेखकों में नहीं होनी चाहिए और उसको हमें गंभीरता से लेना चाहिए वरना हम अपने जन की उपेक्षा करने के लिए अपराधी हो जाएंगे। इस संबंध में, केदार जी, आपकी क्या राय है?

केदारनाथ सिंह : ऐसा है कि काफ़ी सारे सवाल एक साथ आपने उठा दिए। और जो साहित्य व्यापक रूप से पढ़ी जाने वाली पत्रिकाओं में छपता है, जो कविता छपती है—मैं नाम नहीं लूंगा उन पत्रिकाओं का, लेकिन हम जानते हैं कि बहुत सारी लोकप्रिय पत्रिकाएं हिंदी की हैं, उनके माध्यम से कविताएं आती हैं—और दूसरे राठी जी ने कहा कि जो छोटी पत्रिकाएं हैं, उनके माध्यम से बहुत सारे नए कवियों की कविताएं आती हैं। ज्यादातर महत्त्वपूर्ण लेखन—मेरा ऐसा मानना है कि—छोटी पत्रिकाओं के माध्यम से आता है और यह आकस्मिक नहीं है। इसके पीछे एक परिस्थिति का तर्क है और वह यह कि—हुआ यह कि—पिछले कुछ वर्षों में एक प्रवृत्ति विशेष रूप से हिंदी में दिखाई पड़ती है—और उसे लक्ष्य किया जाना चाहिए—कि जो एक नई संवेदना कविता में उभरती दिखाई पड़ती है—नई भाषा के साथ दिखाई पड़ती है, (वह) ज्यादातर बड़े साहित्यिक केंद्रों की अपेक्षा, जो छोटे उभरते हुए केंद्र हैं, या केंद्र नहीं हैं, मान लीजिए,

कस्बे हैं, छोटे शहर हैं, उनके बीच से कविता उभर रही है और वहां एक नए ढंग की सुगबुगाहट दिखाई पड़ती है। ऐसे बहुत सारे नए नाम भी इस बीच उभरकर आए हैं, आश्चर्य इस पर हो सकता है, लेकिन तथ्य है यह कि कुछ कवि ऐसे हैं जो एकदम गांव में बैठकर कविता लिख रहे हैं। मैं एक कवि का नाम लेना चाहूंगा, जिसकी कविताओं ने ख़ास तौर से मेरा ध्यान आकृष्ट किया। अगर मुझे कोई सूची बनानी हो—नवें दशक के एकदम नए कवियों की तो उस सूची में मैं उस नाम को मुख्य रूप से रखना चाहूंगा : एकांत श्रीवास्तव की कविताएं। अब एकांत श्रीवास्तव किसी बड़े शहर, बड़े केंद्र में नहीं;—जहां तक मैं जानता हूं, गांव में रहता है वह। उसको वे सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं लेकिन उसकी कविताएं छोटी पत्रिकाओं के माध्यम से आईं और उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया। उसके यहां एक ख़ास तरह की अलग बनावट दिखाई पड़ती है कविता की। और, आपने गीतों की बात भी बीच में की थी। मैं उस संबंध में भी कुछ कहना चाहूंगा। गीत के नाम पर जो संग्रह आए हैं, थोड़ा-बहुत मैंने देखे हैं। मेरा मानना यह है कि ये जो कविताएं इस बीच लिखी जा रही हैं, जिनको आपने कहा कि वो सीधे-सीधे छन्द में नहीं लिखी जा रही हैं, उनके भीतर गीत की अपार संभावनाएँ हैं। गीतात्मकता भरी है उनके भीतर—पड़ताल की बात है, पहचान की बात है।

और इसलिए, यह कि केवल चौकोर ढंग से कोई ढला-ढलाया गीत होता है, जिसकी एक परंपरा हमारे यहां बन गई थी, वही गीत होता है, इस मान्यता का मैं क़ायल नहीं हूं बल्कि इसे तोड़ा जाना चाहिए। गीत का आज भी कोई आवयविक ढांचा हो सकता है तो वह लोकगीतों में मिलता है, जहां बड़ा लचीलापन है। इसलिए, मैं एक बार पहले कह चुका हूं, दोहराने की कोई बात नहीं है, लेकिन मुझे लगता है, गीत का जो ढांचा छायावाद के साथ विकसित हुआ, उसके साथ एक दुर्भाग्य जुड़ा हुआ है कि उसमें प्रथम पंक्ति की तानाशाही लगातार बनी रहती है, जिसको तोड़ने की जरूरत है अच्छे गीत के लिए। उसकी संभावना—मुझे जो कविता इस बीच लिखी जाती रही है और जो कई बार गद्य के साथ जुड़ी दिखाई देती है उसके भीतर इस प्रकार की गूंज आपको मिल सकती है।

अजित कुमार : राठी जी, केदार जी की बात से मैं आपकी उस बात को जोड़ना चाहूंगा, जहां आपने अभी थोड़ी देर पहले यह कहा था कि हिंदी में दो-तीन दशकों से कोई नया काव्यान्दोलन नहीं हुआ है। हम थोड़ा-सा इतिहास की ओर

पीछे लौटें तो केदारजी ने और कुछ दूसरे आलोचकों ने एक बार यह बात कही कि सन् साठ के लिए हिंदी कविता बदल गई है। उसके बाद यह कहा गया—सन् साठ के बाद कुछ अकवितावादियों ने कहा कि—"वह बदली हुई कविता हमारी है।" फिर कहा गया कि 'कविता की विदाई' हो गई है। उसके बाद फिर, कुछ वर्ष पहले, यह विचार सामने आया कि 'कविता की वापसी' हो गई है। इसके साथ-साथ तरह-तरह के 'आंदोलन' भी आते रहे। एक तो इन सबके बारे में आपका विचार जानना चाहता हूं।

दूसरे, अभी एक बिल्कुल नई पुस्तक सुधीश पचौरी की 'कविता का अंत' नामक सामने आई है जिसमें उन्होंने यह विचार सामने रखा है कि हमारे दो 'यूटोपिया' थे। एक तो आधुनिक विकासवादी यूटोपिया और दूसरे क्रांतिकारिता का यूटोपिया। इन दोनों यूटोपियाओं का अंत हो गया है और उसके बाद कविता अब वापस हो रही है—अपने घर की ओर, परिवार की ओर, मां की ओर और बच्चों की ओर। यह विचार 'कविता की वापसी' वाले विचार से भिन्न है क्योंकि वे कह रहे हैं कि कविता अपनी 'जड़ों की ओर' वापस आ रही है।

तो, क्या ये सारी-की-सारी आपको 'आंदोलनधर्मा' बातें लगती हैं या यह केवल एक तरह का 'रेटरिक', एक तरह का 'शब्दाडंबार' आपको मालूम होता है?

गिरधर राठी : अजित जी, मुझे लगता है कि आंदोलन न होने के पीछे अगर पूरी भारतीय और विश्व कविता की पृष्ठभूमि ध्यान में रखें तो आप पाएंगे कि पिछले बीस-तीस साल में हिंदी कविता का बहुत लेन-देन भारत की भाषाओं से और विश्व की दूसरी भाषाओं से भी रहा है। तो बहुत सारे आंदोलन अक्सर एक या दो मुद्दों को लेकर सामने आते हैं और एक परिपूर्णता, संपूर्णता को अक्सर वे अपनी नज़रों से ओझल रखते हैं। इन बीस-तीस वर्षों में हुआ यह है कि परिपूर्णता ज्यादा सामने रही है कवियों के, और इसलिए उन्हें लगता है कि किसी छोटे-मोटे आंदोलन या किसी एक मुक्ति को लेकर उसी की दुन्दुभि बजाने की बजाय जीवन को अपनी समग्रता में देखने की कोशिश करें। हम जैसा महसूस कर रहे हैं, उसे बेहतर-से-बेहतर और नए-से-नए अंदाज में पेश करने की कोशिश; यही आज की कविता हो सकती है।

अजित कुमार : अच्छा, केदार जी, यह तो माना कि हम जैसा महसूस कर रहे हैं, (उसे

व्यक्त करें, लेकिन) मुझे वी.एस. नायपाल की एक नई किताब का नाम इस समय याद आ रहा है, 'इंडिया : ए मिलियन म्यूटिनीज़ नाउ', जिसका मतलब यह है कि आज हिंदुस्तान में लाखों-करोड़ों ग़दर हो रहे हैं। एक तरफ़ तो यह विविधता और तमाम मतभेदों की बात है, और दूसरी तरफ़ बहुत से लोग यह कहते नजर आते हैं कि कविता में बड़ी एकरसता है, बड़ी एकरूपता है, कि ऊपर से कुछ मुहावरे हैं, लेकिन उन मुहावरों के जरिये कोई बड़ी खास ऐसी अनुभवजन्य बात नहीं कही जा रही है।

सत्य इन दोनों के बीच क़हीं है, या इनमें से कहीं एक जगह है?

केदारनाथ सिंह : एकरसता वाली बात बार-बार कही गई है और विचार करने योग्य है। लेकिन मैं एक बात की ओर इशारा करना चाहूंगा कि शायद हर समय की कविता में ऐसा होता है कि ज्यादातर जो कविताएं लिखी जाती हैं, उनमें 'एक-सा-पन' आपको दिखाई पड़ेगा। लेकिन अजब बात है कि इस बीच कम-से-कम पांच-सात या दस कवि ऐसे होंगे, जिनकी आवाज़ इतनी अलग है परस्पर कि आप सामने रख दें तो एक-दूसरे की पृथकता वहां साफ़ दिखाई पड़ेगी। नागार्जुन-त्रिलोचन की पीढ़ी को लें या बाद की पीढ़ी को लें या एकदम नयों में भी देखें।

तो हमको देखना यह चाहिए कि जो हमारे महत्त्वपूर्ण कवि हैं, जिनमें कहीं-न-कहीं सृजन की एक मौलिकता हमको दिखाई पड़ती है—इन कवियों में वस्तुतः वह एकरसता अगर दिखाई पड़ रही है तो चिंता की बात है। मुझे ऐसा नहीं लगता कि हमारा जो महत्त्वपूर्ण काव्य-लेखन हो रहा है, उसमें उस तरह की कोई एकरसता है, बल्कि उसके बरक्स इतनी विविधता दिखाई पड़ती है जितनी विविधता शायद छायावादी कविता में नहीं थी।

अजित कुमार : इस विविधता के उदाहरण के रूप में आप दोनों के सामने और अपने दर्शकों-श्रोताओं के सामने मैं दो कविताएं पढ़ना चाहूंगा। ये पिछले दस वर्षों में उभरे हुए उन कवियों की कविताएं हैं, जिनमें से कुछ के अभी पहले संग्रह भी नहीं छपे हैं। 'प्रार्थना के शिल्प में नहीं'—यह संग्रह छप चुका है, कवि हैं—देवीप्रसाद मिश्र।

"इन्द्र, आप यहां से जाएं
तो पानी बरसे,
मरुत, आप यहां से कूच करें

तो हवा चले,
बृहस्पति, आप यहां से हटें
तो बुद्धि कुछ काम करना शुरू करे
अदिति, आप यहां से चलें तो
कुछ ढंग की संततियां जन्म लें
बुद्ध, आप यहां से दफ़ा हों
तो कुछ क्रोध आना शुरू हो
देवियो देवताओ, हम आपसे जो कुछ कह रहे हैं
प्रार्थना के शिल्प में नहीं।"

एक कविता तो यह है, एक और कविता मेरे मन में है ...

केदारनाथ सिंह : मुझे एक बात महत्त्वपूर्ण दिखाई पड़ी, अजित जी, जिसकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए कि जैसे आपने कविता पढ़ी तो इसमें एक ख़ास बात—जो मैं मानता हूं कि इस बीच की कविता की एक मुख्य उभरती हुई प्रवृत्ति भी है—परंपरा के साथ एक नया रिश्ता, एक नया रचनात्मक रिश्ता। पूरी शब्दावली इस कविता की, और जो भी प्रतीक लाए गए हैं, वे परंपरा से ही गृहीत हैं और उनके माध्यम से अपनी बात कहने की कोशिश एक नई कोशिश है और मेरा ख़याल है कि इस बीच जो नयी कविता पैदा हो रही है हिंदी में, उसका एक प्रमुख चरित्र लक्षण है, उसको रेखांकित किया जाना चाहिए।

एक बात मैं और कहना चाहूंगा कि जो राजनीतिक चेतना है, जो व्यापक रूप से इस बीच की कविता का एक लक्षण मानी जाती रही है, वह यह है कि पिछले दिनों जो नए कवि उभरकर आए हैं और हमारे कुछ पहले के कवि, उनके यहां वह राजनीतिक चेतना अलग से कविता में सतह पर तैरती दिखाई पड़े, ऐसा नहीं है बल्कि उनके व्यक्तिगत अनुभव के साथ ऐसी घुली-मिली है—ऐसे जटिल अनुभव के घोल के रूप में आती है—कि वहां अलग से उसको हम निकालकर नहीं रख सकते और यह नहीं कह सकते कि यह राजनैतिक चेतना है और यह सौंदर्य-चेतना है।

यह जो चेतना या अनुभव की घुलावट है, यह घुलावट इस बीच की कविता की एक ख़ास विशेषता है और इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। मैं समझता हूं कि इस कविता में भी यह बात है।

गिरधर राठी : एकरसता वाली बात का एक दूसरा पहलू भी है और मुझे लगता है कि अगर आप पिछले बीस-तीस साल की कविता को देखें तो उसमें एक दूसरी तरह की एकरसता है, और वह एकरसता है मूल्यों की। यानी अगर आप उन मूल्यों को एकरस उबाऊ समझते हों, तो। और वे मूल्य नैतिक हैं—समानता के और न्याय़ के और समता के, अत्याचार के विरोध के, अन्याय और शोषण के विरोध के। तो चाहे कोई घर और गांव की कविता लिख रहा हो, चाहे कोई घोषित रूप से किसी राजनीतिक घटना की कविता लिख रहा हो, लेकिन आप पाएंगे कि ये मूल्य उसमें बड़े घुले-मिले हैं, जैसा कि केदार जी कह रहे हैं—अब वे ऊपर सतह पर तैरते हुए नहीं दिखाई देते हैं बल्कि उसके अंदर तक पैठे हुए हैं। और, ये एक प्रौढ़ता की निशानी है। एकरसता का एक तीसरा पहलू यह हो सकता है कि एकरसता इसलिए भी दिखाई दे रही है कि हिंदी कविता एक ऐसे प्रौढ़ स्तर पर आ पहुंची है कि अब उसे नये-नये रास्ते और खोजने होंगे। मेरी अपनी समझ में भारतीय कविता—भारतीय भाषाओं की कविता—या विश्व कविता की तुलना में आज हिंदी की कविता—पिछले बीस-तीस साल की जो है और उसमें इतिहास के निराला भी शामिल हैं, हमारी आधुनिक कविता दुनिया की किसी कविता से कम नहीं है। और उसमें जितने नए प्रयोग हुए हैं, भाषा, शिल्प, संवेदना, हर चीज़ को लेकर, वे आपको कहीं भी, किसी भी कविता से ऊबे नहीं दिखाई देंगे। तो जिन्हें एकरसता जान पड़ती है, वे शायद इन चीज़ों को नहीं देख रहे हैं। और एक चौथी बात छोटी-सी मैं और कहना चाहूंगा कि जैसा कि केदार जी ने संकेत किया है कि एकरसता ऐसी नहीं है और जैसा कि आप भी कह रहे हैं कि आप किसी भी कवि को पढ़िए, जैसे आप रघुवीर सहाय को पढ़िए और केदार जी को पढ़िए, मैं नहीं समझता कि आप कह सकते हैं कि दोनों एक ही तरह के कवि हैं। दोनों ही दो ध्रुवों के कवि हैं और अपने तईं एकदम कुछ नया हासिल करने की और नई ज़मीन तोड़ने की कोशिश हमेशा इनकी रही है।

अजित कुमार : मित्रों! केदार जी और गिरधर जी! हम समझते हैं कि बहुत-सी ज़मीन हमने इस बातचीत के ज़रिये तय की है, बहुत-सी और अभी तय करनी बाक़ी है। बहुत-से सवाल अभी ऐसे हैं जिनका जवाब देना बाक़ी रह गया है। हमारी हिंदी कविता हमारे देश की कविता से कितने अर्थों में और किन स्तरों पर जुड़ी हुई है, यह एक सवाल है। बहुत समय तक

हमारी कविता पर पाश्चात्य कविता का असर दिखता था, वह असर इन वर्षों में किस तरह से कम हुआ है? जड़ों की तरफ़ जाना कितने अलग-अलग रूपों में हुआ है? एक, जड़ों की तरफ़ जाना तो यह है कि सीधी-सादी 'होम-कमिंग ... कि ईश्वर का : "प्रभु का मन से गुणगान करो, तुम और गुमान करो न करो।"—एक तो यह जाना हुआ और एक : 'बुद्ध को दफ़ा' करने वाले या अन्य बहुत से विभिन्न स्तरों पर जाना है। उस सबकी पड़ताल होनी बाक़ी है। हम समझते हैं कि यह चर्चा यहां से आगे बढ़कर पत्र-पत्रिकाओं में और दूसरी जगहों में होगी। आप दोनों को बहुत-बहुत धन्यवाद।

केदारनाथ सिंह
और
गिरधर राठी : धन्यवाद!*

* दिल्ली दूरदर्शन के सौजन्य से।
दिल्ली दूरदर्शन के 'पत्रिका' कार्यक्रम में 6 सितंबर 1990 को प्रसारित
प्रस्तुतकर्ता : शरद दत्त

गोदना

डॉ. दिनेश अग्रवाल

अपने को अलंकारों के प्रयोग से सुंदर तथा आकर्षक बनाना मानव की मूल प्रकृति है। लोक-समाज में देह अलंकरण की आकर्षक विधि है—गोदना। जे.वी. जैन स्नातकोत्तर कॉलेज में कला विभाग के अध्यक्ष डॉ. दिनेश अग्रवाल ने लोक-समाज की इस अलंकरण विधि को समाज, साहित्य और कला के विभिन्न परिप्रेक्ष्य में देखा-परखा है।

अत्यारम्भ से ही नारी जाति में स्वयं को सुंदर देखने और अपने सौंदर्य को प्रदर्शित करने की लालसा रही है। यद्यपि दैहिक रूप तो ईश्वरीय देन है किन्तु इसमें भी अधिकाधिक आकर्षण और लावण्य का समावेश करने के लिए वह आदिकाल से ही प्रत्येक युग-परिवेश में जागरूक रही है। अनेक प्रकार के वस्त्र, आभूषण, अलंकरण और मंडन व प्रसाधन सामग्री के कुशल उपयोग से उसकी रूप-छवि दमकने लगती है तथा दर्शक को सम्मोहित कर डालती है। आदिवासियों और ग्रामीण क्षेत्रों के लोक-समाज में देह-अलंकरण की एक अन्य अनोखी विधा है—'गोदना'। गोदने की इस क्रिया में विशेष प्रकार की अत्यंत नुकीली सुइयों द्वारा देह की त्वचा को धीरे-धीरे छेदा जाता है। यह छेदन क्रिया बहुत सधे हुए हाथों द्वारा की जाती है। सूक्ष्म छिद्रों से मिलकर एक आलंकारिक अभिप्राय (बूंटा, पैटर्न या मोटिफ) या कोई भी रूप तैयार हो जाता है जो धीरे-धीरे कुछ दिनों बाद काला होता जाता है तथा अमिट रूप धारण कर चिरस्थायी होकर त्वचा का ही अंग बन जाता है। त्वचा पर इस प्रकार छपी आकृति को 'गोदना' का 'गुदना छापा' कहा जाता है।

गोदना के अत्यंत प्राचीन उदाहरण मिस्र और आस्ट्रिया से प्राप्त चार हजार वर्ष पुराने ममीकृत देहों पर मिल चुके हैं। लगभग चार हजार वर्ष पूर्व तक यह कला दक्षिण एशिया, एशिया, दक्षिण चीन, बर्मा, जापान, भारत तथा अन्य देशों में फैल चुकी थी। कई जनजातियों में शरीर को विविध रंगों से अलंकृत करने या रंगे जाने की भी प्रथा पायी जाती है जो गोदने से भी पहले विद्यमान थी। देह-सज्जा की उसी प्रवृत्ति से ही मूलतः संबंधित है गोदना। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल से ही आदिसमाज में 'दिठौना' या 'डिठौना' लगाने की परिपाटी भी गोदना से पूर्व प्रचलित थी। समाजशास्त्रियों की धारणा है कि गोदना के विकास में दिठौना की ही मुख्य भूमिका रही है। लोक-समाज में अधिकांश नवजात, छोटे, सुंदर अथवा स्वस्थ बालकों—विशेषतः लड़कों और सुंदर कन्याओं—को किसी अन्य व्यक्ति या ईर्ष्यालु संबंधी की बुरी नजर (कलुषित भाव का कष्टदायक प्रभाव) से होने वाले अनिष्ट से बचाने के लिए उसकी देह पर कहीं भी या विशेषतः चेहरे पर काला टीका लगाने की प्रथा युग-युगों से आज तक चली आयी है। इसी काले टीके को दिठौना कहा जाता है। यह दिठौना एक ओर तो बुरी नजर से बचाता है किंतु दूसरी ओर इससे रूप-आकर्षण भी बढ़ जाता है। इसी विशेषता से प्रेरित होकर मध्यकालीन रीति कवि बिहारीलाल ने 'बिहारी सतसई' में नायिका के रूप-सौंदर्य के वर्णन करते समय दिठौना के महत्त्व का रोचक उल्लेख इस प्रकार किया है—"लोने मुख डीठि न लगै, यों कहि दीनी ईठि। दूनी हवै लागन लगी, दिये डिठौना दीठि।" अर्थात् नायिका के चेहरे को किसी की बुरी नजर से बचाने के लिए दिठौना लगाया गया किंतु दिठौना लगते ही उसका सौंदर्य ही दुगुना हो गया। कालांतर में दिठौना ने कलात्मक ढंग से विकसित होकर गोदने का रूप ले लिया। धीरे-धीरे आदि समाज के महिला वर्ग में गोदने को ही दिठौने और देह-सज्जा का विशेष चहेता अलंकरण माना जाने लगा तथा बाल्यावस्था से ही गोदना उसके लिए आवश्यक हो गया। एक अमिट दिठौने के रूप में गुदने को अपना लिया गया।

आदिवासियों में शैशवावस्था से ही कन्या को दिठौने के रूप में या किसी विशेष पहचान के उद्देश्य से गुदना लगाया जाता है। बाल्यावस्था के बाद कन्या ज्यों-ज्यों यौवन की सीढ़ी पर चढ़ती जाती है त्यों-त्यों गोदना में बुरी नजर से सुरक्षा के साथ सौंदयाकर्षण और प्रेम का भी भावनात्मक समावेश होता जाता है। आदिवासी स्त्रियों में ऐसी मान्यता है कि जो युवती जितना आकर्षक गोदना अपनी देह पर छपवाती है उसे उतना अधिक प्यार उसका पति करता है। उनका यह भी विश्वास है कि गोदनों में सम्मोहन शक्ति होती है और वे सहज ही किसी भी प्रेमी को आकर्षित कर लेते हैं। युवकों में भी ऐसी धारणा है कि गोदना से सज्जित किसी युवती से प्रेम करने में कभी धोखा नहीं होता तथा वह अंत तक विश्वस्त तथा वफादार जीवन-संगिनी बनी रहती है। इसके अतिरिक्त गोदने से युवती की देह-यष्टि में चार चांद लग जाते हैं। लोकगीतों में भी गोदना-सौंदर्य को खूब सराहा

गया है। भोजपुरी कजरियों में नारी-सौंदर्य में गोदने के आकर्षण को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है :

तेरे गोरे गाल पै गोदना चम-चम चमके सावन में
कड़ा छड़ा पैजेब साँकड़ा झमकै सावन में।

(अर्थात् गोरी के हाथों में कड़े, पांवों में छड़े, पाजेब व सांकड़े सावन में झमक रहे हैं, किंतु गोरी के गोरे गालों पर गुदा हुआ गोदना तो सावन में बहुत ही अधिक चमक रहा है।)

गोरिया तोरे बदन पै गोदना आला चमकत बाटेना
जुही चमेली लगौलु गमकत बाटेना,
हार हमेल नाक में नथिया लटकत बाटेना
कहे मानकी राह में छैला तरसत बाटेना।

(अर्थात् ओ गोरी! तूने बालों में जूही व चमेली का जो तेल लगाया है, उसकी सुगन्ध से सारा रास्ता सुगन्धित हो रहा है। तेरे गले में पड़े हार व हमेल और नाक में नथ रस्ते भर झूल रहे हैं लेकिन तेरी देह पर छपे हुए गोदनों से सारा रास्ता ही चमक रहा है। रास्ते में खड़े मनचले छैले तेरी इस रूप-छवि को निहारने को तरस रहे हैं।) एक अन्य गीत की दो पंक्तियां इस प्रकार हैं—

सावलि सूरत तोरी संखीया कटीली,
गोदना गजब सौहे गाल सांवर गोरीया।

(ओ गोरी! तेरे सुंदर गालों पर छपा गोदना गजब का सुंदर लग रहा है, इससे तेरी सुंदर सूरत संखिया की भांति जानलेवा हो गयी है।)

कुछ क्षेत्रों में कन्या का विवाह तय हो जाने के बाद मंगनी व सगाई अथवा विवाह के तुरन्त बाद पति का नाम भी शरीर पर गोदने की प्रथा है। प्रायः स्त्री की भुजाओं—विशेषतः कुहनी से कलाई तक के भाग पर यह नाम गोदा जाता है। इस अवस्था में स्त्रियों के लिये इस गोदे हुए नाम का महत्त्व 'मंगल-सूत्र' से कहीं अधिक होता है। यह उनके विवाहित होने को प्रमाणित तो करता ही है, साथ ही उनकी यह भी आस्था होती है कि मरते समय परलोक में पति तो साथ नहीं जाता किन्तु उसका नाम व निशानी साथ जाते हैं जिसके फलस्वरूप वह अपने को भाग्यवान (सुहागिन) समझती है।

गोदने में होने वाली तीखी चुभन से भयभीत होकर बहुत-सी लड़कियां इधर-उधर लुकती-छिपती रहती हैं और सहज स्वेच्छा से गोदना नहीं लगवाती हैं। इस कष्ट को कम

करने के लिए मनोरंजक प्रयास भी किये जाते हैं जिसमें अन्य अनुभवी लड़कियां सामूहिक रूप से नाचती गाती हैं तथा कुछ सखियां उस कन्या को घेरकर बैठ जाती हैं जो गोदना से डरती हैं। अनेक प्रकार के व्यंगय-विनोद भरे गीतों और कहकहों से उसका मन बहलाती हैं ताकि उसे चुभन का कष्ट कम हो जाय। इन गीतों की कुछ पंक्तियों का अर्थ कुछ इस प्रकार है—ओ सखी, तेरी काया गोदनों से दमक उठेगी, तू सुनसान जंगलों में संभल् कर जाना। किसी मनचले की नजर यदि तुझ पर पड़ गयी तो तेरी खैर नहीं, वह तेरा पीछा करते-करते यहां भी चला आयेगा तो पड़ोसी क्या कहेंगे! आदि-आदि। गीतों के बीच ही जब चार-पांच गोदने बन जाते हैं तब गीत आगे बढ़ता जाता है--आज तू देवलोक की परी लग रही है। घोटुल में हर नौजवान तुझको ही चाहेगा और न्यौछावर हो जायेगा तुझ पर आदि-आदि। गीत में मां भी साथ देती है—ओ बेटी, तेरा गोदने से सजा सुंदर बदन प्रेम के डोरे का काम करेगा और किसी युवक को खींच लेगा। यह दुःख-दर्द तो पल भर का है। आंख बंद कर ले और सह ले।

बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक कई अवसरों पर गोदना रचवाना उनके जीवन का एक आवश्यक अनुष्ठान होता है। गोदने से उनका भावात्मक संबंध अधिक माना जाता है। इस प्रकार वृद्धावस्था तक पहुंचते-पहुंचते शरीर के विभिन्न अंगों पर गोदने छपवाकर धीरे-धीरे सारा शरीर गोदनों से भर जाता है। यद्यपि अधिकांश आदिवासी स्त्रियों में गुदने की परिपाटी प्रायः माथे, गाल, ठोड़ी, भुजा, कलाई तथा पैरों तक ही सीमित है। किंतु मध्यप्रदेश में मंडला क्षेत्र की बैगा जाति की स्त्रियां अपने सम्पूर्ण शरीर (माथे से पैर के पंजों तक) पर गोदने रचवाती हैं। एक झीने-झीने आवरण के समान खड़ी, आड़ी, पड़ी लकीरें, बिंदियों और बूटों से उनका सम्पूर्ण शरीर ढका हुआ लगता है। इसी प्रकार न्यूजीलैंड में माओरी आदिवासी स्त्रियां भी अपना सारा शरीर गोदनों से छपवा डालती हैं। इनके होंठों पर भी गोदना होता है जो इनके विवाहित होने का प्रमाण-प्रतीक माना जाता है। ये स्त्रियां नग्नावस्था में ही रहती हैं और अपने गोदनों द्वारा पुरुषों को आकर्षित करने का प्रयास करती हैं। इसी आधार पर एक पाश्चात्य विद्वान वैरियर एल्विन ने गोदने का मौलिक संबंध यौन वृत्ति से माना है।

मध्य प्रदेश के रायगढ़ क्षेत्र में एक विशिष्ट संप्रदाय 'रामनामी' के लोग (स्त्री व पुरुष) अपनी पूरी काया पर 'राम' शब्द मात्र ही गुदवाते हैं। इनकी अपनी छोटी-सी बस्ती है तथा इनके दैनिक जीवन में भगवान राम की अर्चनात्मक क्रियाओं का अधिक महत्त्व है। इनके ओढ़ने वाले पूरे वस्त्रों पर भी 'राम-राम' छपा रहता है। मैंने इनको प्रयाग और नासिक में कुम्भ के पर्व पर गंगा और गोदावरी में स्नान करते देखा था। बाद में इनकी बस्ती में इनके बीच कुछ समय इनको निकट से देखने और जानने का अवसर भी मिला। कुछ वर्ष वर्ष पूर्व अरुणांचल क्षेत्र में सांस्कृतिक यात्रा के अंतर्गत मुझे गोदने का नवीन ढंग देखने को मिला। यहां के सोबनसीरी जनपद में गोदने का विचित्र ही उद्देश्य से प्रयोग किया जाता

है। यहां की अधिकांश स्त्रियां सुन्दर होती हैं। यहां के जीरो नामक गांव में स्त्रियों की आबादी किसी जमाने में पुरुषों की संख्या से बहुत अधिक थी। सुंदरता के कारण यहां की स्त्रियों का अपहरण अधिक होता था। उनका रूप-सौंदर्य ही उनका दुश्मन बन गया था। अतएव अपना सौंदर्य कम करने अथवा स्वयं को कुरूप बनाकर अपहरण से बचने के प्रयास किये जाने लगे। स्त्रियां गोदनों से अपना चेहरा कुरूप करने लगीं जो एक शैलीपरक परम्परा ही बन गयी। वे माथे के बीच में से गोदने की रेखा नाक तक लम्बी बनाती हैं तथा ठोड़ी के ऊपर पाँच-छः खड़ी और दो-तीन आड़ी-तिरछी रेखायें अंकित करवाती हैं। नाक और कान के निचले कोमल भाग को छेदकर उसमें काला सिक्का डालती हैं। कालान्तर में बढ़ती वय के साथ-साथ कुछ बड़े सिक्के उसी में डालती जाती हैं जिससे नाक चपटी होती जाती है और कान के छेद बड़े होकर लटक जाते हैं। इस क्रूर क्रिया को 'आपातानी' कहा जाता है। आसाम में स्थित नॉर्थ लखीमपुर से जीरो गांव जाते समय परिस्थितिवश मुझे आपातानी करी हुई दो स्त्रियों को निकट से देखने का अवसर मिला। इन्होंने निर्ममतापूर्वक चेहरे पर तो आपातानी और गुदना अंकित किया हुआ था ही, शरीर के ऊपरी विवस्त्र भाग में वक्षस्थल, कंधे, पीठ और भुजाओं को भी भरपूर गोदनों से रचा रखा था, मैं आश्चर्य और ग्लानि भरी दृष्टि से उस नैसर्गिक सौंदर्य के साथ किये गये मानवीय अन्याय को देखता रहा।

गोदने का काम प्रधानतः स्त्रियां ही करती हैं। राजस्थान की नटनियां, गुजरात की रबारी, मध्य प्रदेश की बैगा व देवार तथा अन्य क्षेत्रों में वहां की विविध जनजातियों की स्त्रियां इस कला में सिद्धहस्त हैं। त्योहारों से जुड़े मेलों, हाट, पैंठ और सामयिक बाजारों में भी इनको गोदना लगाते देखा जा सकता है। यह कार्य वे पारिश्रमिक पर करती हैं। आज भी अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में गोदने की प्रथा विद्यमान है। वहां की अशिक्षित और लोकास्थाओं से बंधी स्त्रियां अपने मुंह से अपने पति का नाम तक नहीं ले पातीं। पति का नाम पूछे जाने पर, वे तुरन्त अपने लम्बे घूंघट को संभालते हुए अपनी भुजा आगे बढ़ा देती हैं जिस पर उनके पति का नाम गुदा होता है। पुलिस द्वारा जांच-पड़ताल व व्यक्ति की प्रामाणिकता में भी इस गोदने की मुख्य भूमिका होती है।

देह का शृंगार व प्रसाधन मिट जाता है, कांच की चूड़ियां टूट जाती हैं, जेवर-गहने चोरी हो जाते हैं लेकिन गोदने के ये गहने जीवन भर साथ रहते हैं। जीवन के अंतिम क्षण में सुंदर वस्त्र, आभूषण, साज-सामान और पति भी साथ छोड़ देते हैं किन्तु परलोक में जाने पर भी केवल गोदने के ये सुहागचिह्न ही मंगलसूत्र बनकर साथ जाते हैं। युग के बाद युग बदलते रहे, लोक-अभिरुचियां बदलती रहीं किन्तु गोदने के लिए लोक-नारी समाज की ललक जस की तस बनी रही। इसीलिए लोक-संस्कृति में अलंकरण व आस्था की यह अनोखी विधा आज भी जीवंत है। □

कामायनी के अंतिम दृश्य : एक विखंडनात्मक पाठ

सुधीश पचौरी

जयशंकर प्रसाद की अनुपम कृति 'कामायनी' आरंभ से ही आलोचकों का प्रिय विषय रही है। इसके पक्ष और विपक्ष में उठी चर्चाएं सिद्ध करती हैं कि यह कृति एक चुनौती है। सुधीश पचौरी अपनी भिन्न आलोचनात्मक समझ के साथ कृतियों को एक अलग दृष्टिकोण से देखने के लिए प्रसिद्ध हैं। उत्तर आधुनिकता पर एक सार्थक बहस शुरू करने के बाद आजकल वह 'कामायनी' के रूपक को भिन्न नज़रिए से देखने की आवश्यकता को महसूसते हुए इस विषय पर पूरी किताब लिखने में व्यस्त हैं। प्रस्तुत है आधार प्रकाशन (चंडीगढ़) से शीघ्र प्रकाश्य उनकी पुस्तक 'देरिदा का विखंडन और साहित्य' का एक महत्त्वपूर्ण अंश।

श्रद्धा अपने परदेसी को ढूंढती हुई आती है। इड़ा चकित दुखित खड़ी है। मनु भी वहीं खड़ा होता है। श्रद्धा गीत गाती है—

तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन।

मनु श्रद्धा के सहारे से होश में आते हैं। इड़ा संकुचित कोने में खड़ी रहती है। मनु श्रद्धा का अहसान मानते हैं कि उसने फिर बचा लिया। वह याद करते हैं कि मैं मोह में फंस गया था। तुम्हीं ने बताया कि विश्व एक खेल है :

तुमने हंस-हंस मुझे सिखाया
विश्व खेल है खेल चलो
तुमने मिलकर मुझे बताया
सबसे करते मेल चलो
... शापित-सा मैं जीवन का यह
ले कंकाल भटकता हूं
उसी खोखलेपन में जैसे
कुछ खोजता अटकता हूं।

यहां आकर आधुनिकता की वह योजना लगभग समर्पण कर देती है जो पहले श्रद्धा ने प्रेरित की थी, इड़ा ने जिसे कार्यक्रम रूप में देखा था और जिसे मनु के रूप में उतारा था। समरसता के आगे वह दबा दी जाती है।

कामायनी टैक्स्ट की सबसे बड़ी दुर्लंघ्य समस्या यह है कि उसमें आधुनिक सभ्यता को लगातार दबाया जाता है। श्रद्धा के आधुनिकतावादी विचार मनु को 'कर्म' सर्ग में प्रेरणा देते हैं, फिर इड़ा प्रेरित करती है तब जाकर मनु सारस्वत सभ्यता का निर्माण करते हैं। यह तत्त्व टैक्स्ट का सर्वाधिक दबा हुआ तत्त्व है जो रुपक के जोर में नजर नहीं आता।

(रूपक की कैद क्या होती है यह देखना हो तो 'कामायनी : एक पुनर्विचार' पढ़ें। मालूम पड़ेगा कि किस तरह पोजिटिविस्टिक समीक्षा रूपक की कैद में आराम से रहना चाहती है। इसके अलावा रूपक की जकड़बंदी देखनी हो तो 'कामायनी' की भूमिका पढ़ें जो अपनी कैद आप है। जैसा हम आगे देखेंगे)

मनु निर्वेद में हृदय के पक्ष में शरणागत हो जाते हैं।
सब कुछ बाहर होता जाता
स्वगत उसे मैं न कर सका
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका।

कुछ देर बाद 'मलिन छवि रेखा' इड़ा भी पूर्ण समर्पण कर देती है। इड़ा कहती है कि उसका साहस छूट गया है। आधुनिकता अपने रोगों को अब खुद गिनाती है :

अग्रसर हो रही यहां फूट
सीमाएं कृत्रिम रहीं टूट
श्रमभाग वर्ग बन गया

जिन्हें अपने बल का गर्व उन्हें
नियमों को करनी सृष्टि जिन्हें
विप्लव को करनी वृष्टि उन्हें
... मैं जनपद कल्याणी प्रसिद्ध
अब अवनति कारण हूं निषिद्ध
मेरे सुविभाजन हुए विषम
टूटते नित्य बन रहे नियम
... तो क्या मैं भ्रम में थी नितांत
संहार बध्य असहाय दांत
प्राणी विनाश मुख में अविरल
चुपचाप चले होकर निर्बल
संघर्ष कर्म का मिथ्याबल
ये शक्ति चिन्ह, ये यज्ञ विफल
भय की उपासना प्रणति भ्रांत
अनुशासन की छाया अशांत।

श्रद्धा कहती है :

सिर चढ़ रही पाया न हृदय
तू विकल कर रही है अभिनय
अपनापन चेतन का सुखमय
खो गया नहीं आलोक हृदय
सब अपने पथ पर चले श्रांत
प्रत्येक विभाजन बना भ्रांत।
... चेतनता का भौतिक विभाग
कर, जग को बांट दिया विराग।

श्रद्धा मानव को सौंपती है। इड़ा और श्रद्धा राष्ट्रनीति देखें (यह बांटना नहीं है।) मानव को भी 'श्रद्धामय' बताती है। 'सबकी समरसता का प्रचार मेरे सुत सुन मां की पुकार।'

इड़ा श्रद्धा की चरण-धूल मस्तक से लगाती है। मनु को श्रद्धा विश्वमित्र नजर आती है। मातृमूर्ति नजर आती है।

अपने 'स्व' जन को छोड़कर ही मुक्ति मिलती है। मानव को छोड़कर मुक्ति मिल गई। यह विनिमय नहीं था, परिवर्तन था यानी यही प्रकृति की स्वीकृति थी। मनु श्रद्धा की

आरती उतारते हैं।

तुम देवि! आह कितनी उदार
यह मातृमूर्ति है निर्विकार
हे सर्वमंगले! तुम महती
सबका दुःख अपने पर सहती
कल्याणमयी वाणी कहती
तुम क्षमा निलय में हो रहती।

मानव देव-द्वंद्व का प्रतीक है। देव-द्वंद्व यानी प्रकृति को जीतने और न जीतने का द्वंद्व, श्रद्धा और इड़ा का द्वंद्व।

इसके बाद ही मनु को 'नटेश' (शिव) महाचिति के दर्शन होते हैं। समरसता का रहस्य खुलता है। हिमालय पर जाते हैं।

प्रसाद जी ने 'कामायनी' के आमुख में शुरू में ही लिख दिया है कि 'तथ्य संग्रहकारिणी तर्कबुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है। इसके बावजूद एक अन्य जगह प्रसाद फिर भी रूपक की कैद की सुरक्षा नहीं छोड़ पाते और खुद ही कह देते हैं : 'यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।'

पहले उद्धरण में प्रसाद जी को स्वयं रूपक पर शंका है। रूपक बुद्धिवाद का प्रतीक है प्रसाद के लिए। तर्कबुद्धि ('ज्ञानोन्मेष' की घटनाओं) घटनाओं पर रूपक का आरोप करके चलते हैं, उसमें सादृश्य ढूंढ लेती है। इसलिए पहले उद्धरण में प्रसाद जी के मन में 'रूपक' खोजने को लेकर गहरा संशय है। लेकिन दूसरे उद्धरण में जो पहले के ठीक दूसरे पैराग्राफ में पहले वाक्य में ही है, उन्हें 'रूपक' के प्रति 'अनुराग' पैदा हो जाता है। दूसरे उद्धरण में प्रसाद ने दो रूपकों को संभव बताया है। एक है मानवता के विकास का रूपक, दूसरा है मनुष्यता के मनोवैज्ञानिक इतिहास का रूपक। दूसरे रूपक यानी 'मनोवैज्ञानिक इतिहास' के रूपक को किसी हद तक नंददुलारे वाजपेई और अनंत अध्यापकों ने पढ़ा तो दूसरे जवाब में पहले रूपक को मुक्तिबोध ने पढ़ा। दोनों रूपक की कैद में रहने वाली समीक्षाएं हैं : एक मनोवैज्ञानिक रूपक की कैद में रहते हुए समीक्षक उन दुर्लंघ्य अंतर्विरोधों को, उन शून्य अंधताओं को नहीं देख पाते जो रूपक अपने सांगरूपकत्व में दबा देते हैं जैसे मनु यदि मन के रूपक हैं और श्रद्धा हृदय तथा इड़ा बुद्धि के प्रतीक हैं तो यह तत्त्व सांगरूपक पढ़ने के चक्कर में दबा ही रह जाता है कि मनु को इड़ावाद अपनाने की सलाह

मूलतः श्रद्धा ने ही दी थी। (देखिए आशा एवं कर्म सर्ग)। मनोवैज्ञानिक रूपक इस अंतर्विरोध को नहीं देख पाता कि मनु को 'अपराध' के रास्ते पर धकेलने वालों में पहली श्रद्धा है, इड़ा बाद में आती है। मनोवैज्ञानिकता का रूपक पढ़ने वाले जब इड़ा को बुद्धि का रूपक मानते हैं तो भूल जाते हैं कि इड़ा भी 'महाचिति' की ही पुजारी है (जैसा हमने 'स्वप्न' और 'संघर्ष' सर्ग पढ़ते हुए बताया) मनोवैज्ञानिक रूपक पढ़ने में अन्य बाधाएं तो हैं ही कि कामायनी मन के रूपक को पूरा सांगरूपक नहीं बना पाती, सिर्फ बुद्धि हृदय के समरस होने की बात भर करती है। यह पाठ यह भी नहीं बता पाता कि मानव को श्रद्धा इड़ा के पास क्यों छोड़ती है और मानव को अपने साथ ही क्यों नहीं ले जाती ताकि वह प्रपंच में फंसे ही नहीं।

कहने की जरूरत नहीं कि रूपक के पाठ में कामायनी के ये तथा अन्य बहुत से धब्बे आंखों से ओझल हो जाते हैं। कामायनी का ऐसा पाठकर्त्ता नहीं समझ पाता कि वह कवि के रूपक की कैद से बाहर नहीं निकल पा रहा, अपना पाठ नहीं बना पा रहा।

यहीं नहीं, अंतिम प्रसंगों में 'तुमुल कोलाहल कलह में' जब श्रद्धा स्वयं को 'हृदय की बात रे मन' कहती है तो भी 'मन' हृदय से अलग होकर ही सुनता है। ज्ञान, क्रिया इच्छा के जिस 'सामरस्य' (एकता) की बात प्रसाद बार-बार करते हैं और जिस समरसता के लिए उनकी कामायनी की टैक्स्ट तेजी से दौड़ती है, वह समरसता भी अंततः आ नहीं पाती। आती है तो जगत से दूर जाकर आ पाती है। जगत के भीतर नहीं आ पाती।

मनु और श्रद्धा का 'रूपक' इस तरह 'समरसता' के जिस केंद्र की ओर दौड़ लगता है, वह स्वयं एक आत्मविरोध (अंधता एवं अपारता) में फंस जाता है। सुखवाद के जिस विरोध में 'समरसता' के केंद्र को समक्षता में बताया गया है, वह 'सुखवादी विमर्श' को किसी हद तक तोड़ता तो है लेकिन वह सुख के सामने एक डरा हुआ विमर्श बनकर ही उभरता है और तिस पर भी वह 'क्षणिक सुख' के मुकाबले स्थायी सुख के चक्कर में रहता है।

समरसता की अंधता के बावजूद, उसकी चमक, भौतिक सुख को लेकर लगातार की गई उसकी समीक्षा में दिखती है। 'देव सृष्टि के ध्वंस' के कारकों में, फिर इड़ा एवं स्वप्न सर्ग में 'अभिशाप' के बयानों में आधुनिकता का जो क्रिटीक उभरा है वह आश्चर्यजनक रूप से 'कामना' के समकालीन क्रिटीक की तरह, बौद्रीआ के 'छलना' के क्रिटीक की तरह, उत्तर आधुनिक क्रिटीक की तरह पढ़ा जा सकता है। कामायनी का यही क्लासिक महत्त्व है।

'सुख' के संग्रह से प्रकृति (बाह्य एवं अंतः) में जो जड़ता आती है, प्रलय उसी से होती है। पहली प्रलय 'देवदंभ' में सब कुछ के 'हविष्य' हो जाने का प्रमाण है तो दूसरी सारस्वत नगर की 'प्रलय' एक बार पहली को ही दुहराती है। 'प्रकृति दुर्जेय' है। उसके प्रतिकूल चलने पर वह दंडित करती है। पहली प्रलय के कारणों में बुनियादी कारण 'वासना सरिता का' प्रवाह ही है। सब कुछ स्वायत्त हो चुका है—बल, वैभव और आनंद। प्रकृति के तत्त्वों में घोर असंतुलन पैदा हो चुका है। दंड के रूप में प्रलय होती है। मनु फिर भी

सबक नहीं लेते। वे फिर कामना-पूर्ति को ही जीवन-पूर्ति समझते हैं। (श्रद्धा और इड़ा उन्हें इसमें प्रेरित और प्रवृत्त करती हैं।) सारस्वत सभ्यता फिर बनती है। यहां भी सुख संचय है। प्रकृति का नियमन है। लेकिन मनु इस नियमन से ऊब जाते हैं। नियम तोड़ते हैं तो फिर उपद्रव होता है, देवता क्रुद्ध होते हैं, जनता विद्रोह कर देती है, सब कुछ एक बार फिर नष्ट होता है। पहली प्रलय से यह दूसरी प्रलय सिर्फ एक मायने में भिन्न है कि पहली 'प्रकृति शक्तियों' के प्रकोप की सीधी गवाह है जबकि दूसरी अपने ही बनाए नियमन को तोड़ देने का परिणाम है। (उपभोक्तावाद के समकालीन पाठ में निहित 'प्रलय' यहां पढ़ी जा सकती है!)

पहली प्रलय में क्रिटीक बहुत तीखा और साफ है। दूसरी में अंधता-युक्त है। पहली प्रलय में प्रकृति के क्रोध का कारण सहज उपलब्ध है। यह है एंद्रिक सुख के संग्रह की निर्बाध कामना। मनु प्रलय के बाद ही कारण जान पाए हैं। सारस्वत सभ्यता के निर्माण में मानो एक सबक लिया गया है। प्रकृति के अनुकूल नियम बनाए गए हैं। सभ्यता विकसित की गई है। कुछ-कुछ देवसभ्यता का तत्त्व (सुख) यहां है लेकिन थोड़ा स्पष्ट और स्थिर है, वर्ग बन गए हैं, वर्ण बन गए हैं। जनतंत्र हैं। पजा की शक्ति बढ़ गई है। शासक के लिए भी नियम हैं। शासक स्वयं जब उन्हें तोड़ता है तो फिर प्रलय होती है। पहली प्रलय से दूसरी प्रलय तक प्रकृति को नियमित किया गया है।

कामायनी का उत्तर-आधुनिक विमर्श यहीं कहीं पढ़ा जा सकता है। रूपक की कैद इस पाठ को दबाए रखती है लेकिन एक बार फिर समरसता के रूपक (केंद्र) को तोड़ने के बाद यह स्पष्ट होता है कि कामायनी मूलतः कामना के नियमन का पाठ है और समरसता का प्रकट सफल केंद्र सिर्फ प्रसाद का है, 'पाठ' का नहीं है। कामना को नियमित करने की तमाम एपीस्टीमोलोजिकल व्यवस्था के बाद 'मनु' फिर भी अलग रह ही जाता है। इस उत्तर-आधुनिक पाठ की किंतु एक समस्या है—वह है उसका 'बंद' क्षेत्र जो प्रसाद ने समरसता के खूंटे से बांध दिया है।

समरसता का गणित जिस केंद्र की स्थापना करता है, वह कामायनी की टैक्स्ट में एक पूर्व-स्थित, प्राथमिक पूर्वमान्य तत्त्व है। शेष भौतिक जगत कोलाहल कलह है, दोयम है। प्रसाद का यह वाक् केंद्रण उन्हें अद्वैतवादी बनाता है जो 'भेद' से भागता है। (मुक्तिबोध ने अपने पाजिटिविस्टिक तरीके से अद्वैतवाद को सीधे सामंतवाद से जोड़ा है, यह गलत है। स्वयं आधुनिकता भी एक केंद्रवादी अभेदवादी दृष्टि है। भारतीय समाज के संदर्भ में अद्वैतवाद और समरसता यहीं के बुर्जुआ वर्ग के शोषण का एक बड़ा औजार रही है। इन दिनों इस दृष्टि को आर. एस. एस. ज्यादा अपना रहा है।) समरसता फासिज्म का नया केंद्रवाद भी हो सकता है। इसलिए 'समरसता' का केंद्र कामायनी का पूर्ण उत्तर-आधुनिक पाठ नहीं बनने देता। वह अधूरा पाठ बनती है।

कामायनी की टैक्स्ट का उलट पाठ यह रहस्य खोलता है कि कामायनी में दोहरे

दमन की गांठ है। एक है कामना का दमन। इसके साथ ही समरसता के केंद्र ने प्रकृति के पाठ को भी दबाया है। इसे हम रहस्य से आनंद सर्ग तक देख सकते हैं जहां प्रकृति का तत्त्व दबा है, दर्शन का तत्त्व हावी हुआ है। जड़ या चेतन सब समरस हो जाते हैं। एक ही वाक्-केंद्रिक चेतनता विलसती है। तब आनंद अखंड होता है। प्रकृति और उसकी बहुविधता यहां फिर दब जाती है। चेतना यहां फिर हावी हो जाती है। टैक्स्ट की सारी कोशिशों के बावजूद आनंद प्राप्त करने वाली विलसती एक चेतनता प्रकृति को एक बार फिर नियमित करके ही समरसता को प्राप्त करती है।

कामायनी की टैक्स्ट की यह सबसे बड़ी अंधता है कि वह एक पूरी तरह संपूर्णतावादी 'बंद' कर दी गई टैक्स्ट है। लक्ष्य पा लिया गया है। समरसता प्राप्त कर ली गई है। इस समरसता में 'मानव' को कोई जगह नहीं है। मानव को तो फिर सभ्यता का विकास करना है, इड़ा के साथ ही रहना है। सिर्फ देवता लोग ही महाचिति की ओर पहुंच सकते हैं। यदि इड़ा-मानव की कथा थोड़ा कही जाती तो कथा खुलती।

लेकिन कामायनी के इस उलट पाठ को यदि हम दुहराकर पढ़ें तो अचानक पर्यावरण और अस्तित्व संबंधी कुछ नए प्रश्न झिलमिलाने लगते हैं। आधुनिकता की जो सुदीर्घ समीक्षा यहां समरसता के केंद्र से आई है, वह विचित्र ढंग से मौलिक है। कह सकते हैं कि कामायनी का एक पाठ हमें आधुनिकता की पहली आवेगयुक्त समीक्षा प्रदान करता है। कामायनी का एक पाठ हमें 'कामना' के खेल की सीमा 'प्रलय' तक ले जाता है और प्रकृति के साथ अनुकूलन को प्राथमिक बताता है। इस पाठ का उलट पाठ हमें ठीक उल्टी दिशा की ओर चलाता है जहां हम 'भौतिक सुख' की पूर्व स्थापना (देवसभ्यता) को प्राथमिक मान सकते हैं : कामायनी के टैक्स्ट के रूपक की सबसे बड़ी ताकत यही है कि वह भौतिक सुख के विमर्श को अपने चरम तक तानती है। लेकिन अंततः एक किस्म का सुख ही उसका लक्ष्य है। सुखेषणा ही लक्ष्य है। यह सुखेषणा बड़े भारी त्याग के नाटक के साथ आती है। लेकिन सुखेषणा, मनु, श्रद्धा का स्थायी सुख।

इस दमन में आधुनिकता की पहली लगभग दार्शनिक समीक्षा हमारे पाठ का अनिवार्य हिस्सा बन जाती है। इस दृष्टि से कामायनी आधुनिकता की पहली और बहुत दूर तक मुकम्मिल दार्शनिक समीक्षा है जो आधुनिकता की योजना पर ही शंका करती है। यह बहुत कुछ एडोर्नो होर्खिमार के 'द डाइलैक्टिक ऑफ एनलाइटिनमैंट' से मिलती-जुलती है। आधुनिकता की योजना के प्रति जितनी गहरी शंका वहां है, उतनी ही यहां है। लेकिन एडोर्नो होर्खिमार 'ज्ञानोदय' को तोड़कर 'समरसता' की ओर नहीं जाते। जनतंत्र की ओर आते हैं। प्रसाद जाते हैं लेकिन समाधि की ओर जाते हैं। वे एक केंद्र से घबराकर दूसरे परम केंद्र की ओर भागते हैं। एडोर्नो होर्खिमार नहीं भागते। लेकिन समरसता के केंद्रवाद के बावजूद चिंता सर्ग, स्वप्न, इड़ा इत्यादि सर्गों में आधुनिकता की गहन समीक्षा कामायनी को एक उत्तर-

आधुनिक पाठ की क्षमता देती है। यद्यपि समरसता की ओर दौड़ लगाने के कारण वह फिर एक केंद्रवाद यानी दूसरे किस्म की समावेशी आधुनिकता के गड्ढे में गिर जाती है। आधुनिकता की कामायनी-समीक्षा एक महत्त्वपूर्ण उत्तर-आधुनिक तत्त्व है। आधुनिकता को प्रश्नित करने में छायावाद में कामायनी सबसे आगे है।

कामायनी की संरचना की दुर्लंघ्य अपारता उसके रूपकवाद में है। उसमें दो या तीन रूपक एक साथ पढ़े जा सकते हैं और हर रूपक एक कैंद बनाता है जिसके चलते कामायनी की टैक्स्ट के 'विघ्न' छिप जाते हैं, दब जाते हैं। आधुनिकता की समीक्षा एक ऐसा ही तत्त्व है जिसे बुरी तरह समरसता के आरोह के जरिए दबा दिया जाता है।

सांगरूपक के मोह ने दोहरे दमन, दोहरी गांठें पैदा की हैं। पहला दमन आधुनिकता का है क्योंकि प्रथम क्षण से उसे नकारात्मक, दोयम बताया गया है और समरसता को प्रथम। फिर समरसता की ओर यात्रा उस क्रिटीक को भी दबा देती है जो आधुनिकता के केंद्र के मुकाबले दिया गया था। कामायनी इसीलिए विकेंद्रित नहीं हो पाती। वह एक केंद्र से छूटकर दूसरे में जा गिरती है। कामायनी को टैक्स्ट के लिए, उसमें सक्रिय रूपक के लिए सबसे चमकदार लेकिन सबसे खतरनाक और अंधा शब्द है 'समरसता'। वह कामना (सुख की इच्छा) को लगातार दबाने का काम करता है। लेकिन जब हम समरसता के क्षेत्र को पढ़ते हैं तो वह एक 'अनुत्पादक महाचिति' की ही 'कामना' का पर्याय है। सामान्य मनुष्य की 'कामना' के मुकाबले महाचिति की यह 'कामना' ही 'त्रिपुर' है जहां जीवन की पुनरुत्पादकता नहीं है। वह स्वयं में एक महाजड़ता है, जबकि स्वांग 'एक चेतनता' का है। इस तरह 'समरस' में जिस 'चेतना', जिस चिति की सबसे ज्यादा बात की गई है, वही वहां नहीं है। आनंद सर्ग में 'कामायनी' जगत की 'विश्वचेतना से पुलकित' तब होती है, जब वह 'पूर्णकाम की प्रतिमा' बन जाती है, यानी बनती है 'प्रतिमा ही। चेतना नहीं बनती।'

'समरसता', 'समरस', 'सामरस्य' एक-केंद्रिकता-वादी रूपक के सार हैं। इन छलिया शब्दों में सब कुछ है मगर रस नहीं है। जिस तुमुल कोलाहल कलह में श्रद्धा स्वयं को हृदय की बात कहती है, वह हृदय अखंड आनंदावस्था में रहता ही नहीं है, वह सिर्फ 'चेतना' बन जाता है। उसे कुछ भी महसूस नहीं होता। शुद्ध आनंद बन जाता है वह। यह हृदय की बात की मृत्यु है। इस जगत से परे वह चली जाती है। समस्या इस जगत की रह जाती है। यही कामायनी की 'अपारता' है। वह प्रश्न उठाती है। उत्तर नहीं लाती है, लाती है तो झूठे। यही प्रसाद के 'ओरियंटलिज्म' की सीमा है।

कामायनी के इस उलट-पलट-पाठ में यह पता चलता है कि जहां प्रसाद सबसे चमकदार हैं वहीं सबसे ज्यादा अंधेरा उनके यहां हैं। समरसता ऐसा ही एक चमकदार पद है जो इसमें दो-दो दमन पैदा करता है और एक बड़ा उत्तर-आधुनिक क्रिटीक शुरू होते ही गिर जाता है। □

केदारनाथ सिंह : मानव-संबंध बने रहने की जिद

देवशंकर नवीन

आधुनिक हिंदी साहित्य में केदारनाथ सिंह की कविता का स्वर अपनी एक अलग पहचान के साथ प्रतिष्ठित है। जीवन के अनेक रंगों में ढली इनकी कविता मानवीय सरोकारों के प्रति उनकी गहन चिन्ता की अभिव्यक्ति है। युवा आलोचक डॉ. देवशंकर नवीन ने बड़ी गंभीरता से केदारजी की कविता के इंद्रधनुषी रंगों का विश्लेषण किया है।

किसी भी भाषा के कवि की दृष्टि का विस्तार बहुत व्यापक होता है। वह अपने अंतःप्रदेश से देखना शुरू करता है, अपने जीवन का मुआयना करता हुआ, घर-परिवार-समाज-देश-देशांतर तक चला जाता है और इस दृष्टि-यात्रा में वह परिवेश की जटिलताओं, विडंबनाओं, सुविधाओं-असुविधाओं के वितरण के पाखण्डों को कच्चे माल के रूप में बटोर लाता है। वर्तमान समय के श्रेष्ठतर कवि केदारनाथ सिंह की कविताओं में ऐसी ही विस्तृत अंतर्दृष्टि भरी पड़ी है। कविता किस तरह जीवन की जटिलताओं और मुसीबतों से परेशान व्यक्ति के भीतर संगृहीत त्रासदी का विरेचन करती है, किस तरह व्यथा से कराहते मनुष्य को लोरी की मुलायम थपकी से सुलाकर राहत और सुकून देती है तथा किस तरह पालना हिलाती हुई, प्यारभरी थपकी से जगाती हुई कान में कहती है—उठो, देखो, नई सुबह आ गई है, तुम अपनी संचित ऊर्जा का उपयोग करो—यह जानने के लिए केदारनाथ सिंह की कविताएं उदाहरण के रूप में पेश की जा सकती हैं। सन् 1950 से इन्होंने अपना व्यवस्थित लेखन शुरू किया। पिछले साढ़े चार दशकों का इनका काव्य-संसार हमें यही सिखाता है कि बिना खीझ, क्रोध, गाली-गलौज और खून-खराबा के शब्दों के प्रयोग के भी श्रेष्ठ

कविताएं लिखी जा सकती हैं और ऐसी कविताएं कहीं ज्यादा असरदार, ज्यादा टिकाऊ हो पाती हैं।

तीसरा सप्तक में केदारनाथ सिंह ने अपने वक्तव्य में कहा है, "... मानव-संस्कृति के विकास में कवि का योग दो प्रकार से होता है—नवीन परिस्थितियों के तल में अंतःसलिला की तरह बहती हुई अननुभूत लय के आविष्कार के रूप में तथा अछूते बिंबों की कलात्मक योजना के रूप में।" ... "मैं मन को बराबर खुला रखने की कोशिश करता हूं, ताकि वह आसपास के जीवन की हल्की-से-हल्की आवाज को भी प्रतिध्वनित कर सके।" कवि की इन दो स्वीकारोक्तियों के आलोक में इनकी कविताओं का मर्म बड़ी आसानी से खुलता नजर आता है। इनकी सारी कविताओं में जीवन के अननुभूत लय का आविष्कार दिखता है जिसे कवि के खुले मन ने जीवन की तलछट से छानकर निकाला है, और जो आविष्कार अन्य कवियों के यहां नहीं दिखता है।

विषय की दृष्टि से देखें तो केदारनाथ सिंह की कविताएं मुख्यतया तीन ओर संकेत करती हैं—एक तरह की वे कविताएं हैं जहां कवि अपने परिवेश, जनजीवन, परिस्थिति में व्याप्त विडंबनाओं से व्यथित हैं और उन विडंबनाओं से आक्रांत कवि गुस्से में न तो गाली-गलौज करते, न गोली-बारूद की बात करते, न अति क्रांतिकारी की तरह चीखते-बड़बड़ाते, वे सिर्फ 'आग' की ओर इशारा कर देते हैं—आप विश्वास करें/मैं कविता नहीं कर रहा/सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूं। कवि इस बात से वाकिफ हैं कि अराजकता का जो पुख्ता स्तंभ समाज में खड़ा हो चुका है, उसे लोहे से नहीं, मस्तिष्क से तोड़ा जा सकता है और ऐसा ही होना चाहिए—एक फावड़े की तरह उससे पीठ टिकाकर/एक समूची उम्र काट देने के बाद/मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं/कि लोहा नहीं/सिर्फ आदमी का सिर तोड़ सकता है। केदारनाथ सिंह के सृजन संसार की यही मौलिकता इनके जन सरोकारों को और इनके अनुभवों की ईमानदारी को प्रमाणित करती है।

आक्रामक मुद्रा में चीख-चिल्लाकर तात्कालिक वाहवाही लूट लेने की प्रवृत्ति कई जगह देखी जा सकती है पर जीवन की नई-नई परिस्थितियों में सद्यःजात गुत्थियों को सुलझाने के लिए भाषा और अभिव्यक्ति का इतना धैर्य और इतनी शालीनता परिस्थितियों के प्रति कवि की गहरी चिंता को द्योतित करती है। यह बात ध्रुव सत्य है कि कवि बंदूक नहीं चलाता और कविता आग नहीं जलाती। कवि की समझ इतनी प्रखर होनी चाहिए कि वह मनुष्य की ऊर्जा की ताकत और उसका महत्त्व समझे तथा अपने पाठकों को समझाए। केदारनाथ सिंह की कविता अपने पाठकों को धीर बनाती है और उसकी बुद्धि को उर्वर। परिवेश की अराजकता से असुर वृत्ति से नहीं, सुर वृत्ति से टक्कर लेने की तरकीब सिखाती है। कह ले सकते हैं अराजकता के दानव से लड़ने का डिप्लोमेटिक अंदाज सिखाती है। यह अंदाज कम-से-कम मानवीय शक्ति के अपव्यय और दुरुपयोग को रोकता तो है ही।

केदारनाथ सिंह का कहना है, "कविता से मैं उतनी ही मांग करना चाहता हूं, जितना वह दे सकती है। कविता—सिर्फ़ इस कारण.कि वह कविता है, दुनिया को बदल देगी, ऐसी खुशफहमी मैंने कभी नहीं पाली। एक रचनाकार के नाते मैं कविता की ताकत और सीमा—दोनों जानता हूं। इसलिए इस बात को लेकर मेरे मन में कोई भ्रम नहीं कि मेरी पहली लड़ाई अपने मोर्चे पर ही है और वह यह कि किस तरह कविता को मानव-विरोधी शक्तियों के बीच मानव-संवेद्य बनाए रखा जाए। परिवर्तन की दिशा में आज एक कवि की सबसे सार्थक पहल यही हो सकती है (मेरे समय के शब्द, पृ. 147)।" इन मानव-विरोधी शक्तियों के बीच कविता को मानव-संवेद्य बनाए रख पाने की सफलता केदारनाथ सिंह को निर्मल और निश्छल जनसरोकार के कारण मिल पाई है। अपनी कविताई की जमीन की खोज कवि केदार ने वहीं की है जहां यह अपने असली रूप में है। यहां डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव को उद्धृत करना उपयुक्त होगा कि "केदारनाथ सिंह शायद हिंदी के समकालीन परिदृश्य में अकेले कवि हैं, जो एक ही साथ गांव के भी कवि हैं और शहर के भी। अनुभव के ये दोनों छोर कई बार उनकी कविता में एक ही साथ और एक ही समय दिखाई पड़ते हैं। शायद भारतीय अनुभव की यह अपनी एक विशेष बनावट है, जिसे नकारकर सच्ची भारतीय कविता नहीं लिखी जा सकती। ... केदार कल्पना का इस्तेमाल जरूर करते हैं और देखा जाए, तो कल्पना की जो पूंजी उनके यहां है, वह उनके सुपरिचित समकालीनों के यहां विरल है। पर कल्पना का इस्तेमाल वे जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाने के लिए नहीं करते, परिवेश की जटिल वास्तविकता को अधिक तीखे अर्थ में ग्राह्य बनाने के लिए करते हैं। उनकी कविता को नाम देने के लिए शास्त्र की दुनिया में जाने की जरूरत नहीं, सीधे हाट-बाजार में निकलने की जरूरत है, जहां केदार की कविता है। जहां भाषा ढलती है, सीधे वहीं से केदार की कविता अपना समग्र जीवन अथवा जीवन-शक्ति प्राप्त करती है। (प्रतिनिधि कविताएं : केदारनाथ सिंह, पृ. 5-6)।"

और, इस आलोक में मनुष्य की ऊर्जा तथा मानवीय सरोकारों के प्रति कवि केदार की चिन्ता का औचित्य प्रमाणित हो जाता है। गांव से लेकर शहर तक और शहर से लेकर गांव तक की मानव-विरोधी परिस्थितियों में केदारनाथ सिंह की अनुसंधित्सु आंखें और व्याकुल मन सदैव 'मैं' की अस्मिता की तलाश करता रहता है। कवि का यह 'मैं' केदारनाथ सिंह नहीं है, यह 'मैं' मनुष्य मात्र है, जो दहशत भरे माहौल में रत्तीभर जिंदगी और सांस भर उन्मुक्त हवा के लिए व्याकुल है, जिजीविषा के मूल्य पर अपने को बार-बार मारता है, बार-बार आहत होता है, बार-बार टूटता है। केदारनाथ सिंह की कविताएं दहशत और शामत भरे माहौल में जीवन बिताते अपने परिवेश के लोगों को प्रतिक्रिया में चीखने, बड़बड़ाने, सांघातिक होने का संदेश नहीं देतीं, वे उन्हें सोचने को मजबूर करती हैं।

केदारनाथ सिंह की दूसरी कोटि की कविताओं में प्रकृतिपरक कविताएं हैं। प्रकृति

से संबद्ध इनकी कविताओं की भी कोई सीमा नहीं है। क्या वर्षा, क्या वसंत, क्या ग्रीष्म, क्या शिशिर, क्या पेड़-पौधे, क्या फसल ... सब के सब इनके यहां सुषमा की बाढ़ ला देते हैं। एक बात ध्यान देने की है कि प्रकृति-चित्रण भी केदार के यहां कोई फैन्टसी गढ़ने या भावनाओं को पुलकित करने के लिए नहीं होता। वहां भी कवि जीवन के कोमल तंतुओं को छूते हुए प्रतीत होते हैं। अपने विचार में, व्यवहार में और लेखन में अत्यंत आधुनिक हुए केदार को जब अपनी पारंपरिक थाती और अपनी जमीन की जड़ें हिलती नजर आने लगती हैं, तो कवि उस ओर बड़ी चतुराई से इशारा कर देते हैं। हमारे खेत में उपजे गन्ने, गेहूं, मकई, बाजरे जब बहुराष्ट्रीय कंपनियों की तरकीब से नाना विधि में हमारे पास आते हैं तो सही रूप में हम ही उसे नहीं पहचान पाते। हमारी नींव पर विदेशी पूंजीपतियों की ऐसी अट्टालिका खड़ी हो जाती है कि हम अपनी नींव की मजबूती की तारीफ़ करना छोड़कर उस चकाचौंध में उलझ जाते हैं। कवि केदारनाथ सिंह अपनी 'दाने' कविता में 1984 ई. में ही इस खतरे की ओर संकेत कर चुके थे जब इनके दाने खलिहान से उठकर मंडी नहीं जाना चाहते थे और जाते-जाते कह रहे थे कि हम जाएंगे तो लौटकर नहीं आएंगे और अगर आ भी गए तो तुम हमें पहचान नहीं पाओगे। वाकई, आज हम उसे पहचान नहीं पाते। ... सही मायने में केदारनाथ सिंह की कविता को इस तरह प्रकृतिपरक, प्रेमपरक, समाजपरक आदि कोटि में बांटकर देखने का एक ही औचित्य है कि समझने में थोड़ी-सी सुविधा हो वरना इनकी सारी की सारी कविताएं भ्रष्ट माहौल, अराजक वातावरण में नैतिकता की तलाश की कविताएं हैं। प्रश्नाकुलता, जिज्ञासा, अनुसंधित्सु प्रवृत्ति, जीवन-मूल्यों की स्थापना के प्रति आग्रह इनकी कविताओं में हर जगह विद्यमान है। 'नीम', 'नदी', 'पहाड़', 'सूर्य' 'बारिश', 'जब वर्षा शुरू होती है', 'शाम', 'बसन्त' आदि कविताओं को देखते हुए यह कहना जितना सहज है कि ये प्रकृतिपरक कविताएं हैं, उतना ही जरूरी है कि इनमें यह भी ढूंढा जाए कि इनकी बनावट में मानव जीवन की सूक्ष्म संवेदनाएं किस तरह रुई-रंग के माफिक रेशे-रेशे में भरी गई हैं। केदारनाथ सिंह की प्रकृतिपरक कविताओं से गुजरना पूरा का पूरा मानवीय सरोकारों से साक्षात्कार करना है और यहीं ये बातें भी कहीं ज्यादा स्पष्ट होने लगती हैं कि वाकई प्रकृति ही मानव जीवन का आधार है।

केदारनाथ सिंह ने प्रेम कविताएं भी कई लिखीं। लेकिन यहां भी सावधान रहने की जरुरत है कि इनकी प्रेम कविताएं भावनात्मक श्वासोच्छ्वास की कविता नहीं हैं। 'तुम आई', 'हाथ', 'जाना', 'जो एक स्त्री को जानता है', 'उस शहर में जो एक मौलसिरी का पेड़ है' आदि कविताओं को देखकर यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि यहां प्रेम किसी मनोवेग अथवा उन्माद को रेखांकित नहीं करता, यहां जीवन के सारे आयाम खुलते हैं, मनुष्य की दैहिक-क्रिया की सारी सलवटें परत-दर-परत उलटती जाती हैं। 'तुम आईं' कविता के प्रेम विषयक नायक अपनी प्रेमिका के आगमन पर हर्षित होकर किसी यौवनोन्माद को नहीं याद

करता, कामुकता का दीप नहीं जलाता, उसे अपनी जिंदगी के सारे सुख-दुख, हर्ष-विषाद याद आते हैं, उसे फसलों का क्रमशः परिपक्व होना, पकना, फूटना, उपयोगी होना याद आता है, छीमियों से दाने और भूसे को अलगाना याद आता है, अर्थात् एक प्रेमिका अपने प्रेमी को पूरे प्रेम जीवन में केवल स्वप्नलोक नहीं दिखाती, उसे सुख भी देती है और दुख भी, और ये सारी क्रियाएं उसे दंडित करने, छलने के लिए नहीं, उसे पूर्ण करने के लिए करती है। वस्तुतः जीवन में एक आदर्श प्रेम की यही पूर्णता है भी। केदारनाथ सिंह की कविताओं में प्रेम भी मानव जीवन को बड़ी चालाकी से शिक्षित करता है।

पुराने जमाने से ही काव्य के प्रयोजन पर बहुत कुछ लिखा कहा जाता रहा है। आज आकर कविता से लोग कुछ ज्यादा ही अपेक्षा रखने लगे हैं। सन् साठ के बाद की कविताओं में कवियों ने छुटे मुंह और खुले शब्दों में बहुत कुछ वांछित-अवांछित कहना शुरू कर दिया है, बल्कि आलोचकों ने भी 'किसी भी तरह की भाषा' को 'अवांछनीय' कहना छोड़ दिया है। ऐसे हालात में कविता, जब चीख, चिल्लाहट, बौखलाहट, गुस्सा, आक्रामकता का साधन बन गई है; केदारनाथ सिंह की कविता अपने पाठकों को धीर, संयत, प्रबुद्ध और चतुर बनाती है। स्वयं कुछ न कर कविता से सब कुछ करवाना चाहने वालों को केदार की कविताएं कन्विन्स करती हैं, उसके गुस्से को सहलाकर शांत करती हैं और उसे याद दिलाती हैं कि तुम्हारी शक्ति अजेय है, तुम जिस फावड़े से अराजकता के स्तंभ तोड़ रहे हो, वह उस लोहे के फावड़े से नहीं, तुम्हारे मस्तिष्क से टूट रहा है।

केदार की कविताएं जिस रास्ते से गुजर कर यह सफलता हासिल करती हैं, वह इनके बिंबों और प्रतीकों के संयोजन के कौशल के कारण हो पाया है। कविता में बिंब प्रयोग के संबंध में कवि ने बहुत कुछ लिखा है। साठ के बाद की कविताओं में बिंबों के तिरस्कार पर कई तरह की बातें लिखी गईं और कहा गया कि बिंबों के घटाटोप के कारण नई कविता शक की चीज़ होने लगी। लिहाजा साठ के बाद के कवियों ने बिंबों से अपना मोह घटाना शुरू कर दिया, कई ने मोह तोड़ लिया। यहां तक कि कई कवियों ने घोषणा की कि कविता में बिंब को वे अभिव्यक्ति का अवरोधक मानते हैं। पर केदारनाथ सिंह का सृजन संसार भी और इनकी आत्म-स्वीकृतियां भी कविताओं में बिंब की अहम भूमिका को स्वीकारती हैं। सही मायने में बिंब ही वह पहला घटक है जो पाठक को कविता से जोड़ता है। इस बात से मुकरा नहीं जा सकता कि कोई भी पाठक कविता पढ़ते या सुनते हुए सबसे पहले उसका बिंब ही ग्रहण करता है। किसी भी पाठक के मस्तिष्क पर सर्वप्रथम कविता के कथ्य का चित्र बनता है और फिर वह उसके विचारों को कल्टिवेट करता है। इसी बिंब और प्रतीक के सहारे कवि के शब्द-संस्कार को समझने की कोशिश होनी चाहिए। इनके यहां वाक्यों में सदा एक जिज्ञासा, एक खोज भरी पड़ी है। मनुष्य की अस्मिता और नैतिकता की खोज के रूप में व्याप्त यह आकुलता ही कवि को सदा बेचैन किए रहती है। 'कौन',

'क्या,' 'कहां' जैसे प्रश्नवाचक शब्द, 'मां' अथवा अन्य संबंधपरक, व्यक्तिपरक शब्द, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, ऋतु, मौसम, समय, सूर्य, सूर्यास्त, शाम, कोहरा, अजनबी, घाटियां, गुफाएं, 'कंदराएं ... आदि तरह के शब्दों के प्रयोग केदारनाथ सिंह के यहां मात्र शब्द भर नहीं रह जाते। ये शब्द इनकी कविताओं में अपने विशाल आयाम के साथ उपस्थित होते हैं। इनकी कविताओं से ही यह स्पष्ट होता है कि कवि को जीवन में सबसे ज्यादा भरोसा 'शब्द' और 'मानव मस्तिष्क' पर है। यह सच है कि इन दोनों का दुरुपयोग नहीं किया गया तो ये बृहत्तर काम की चीज़ साबित होंगे। 'मानव मस्तिष्क' को 'शब्द' प्रेरित करता है और 'शब्द' 'मानव मस्तिष्क' में अर्थ पाता है। इन दोनों घटकों पर केदारनाथ सिंह की आस्था इनकी गहरी जीवनदृष्टि का परिचायक है। शायद यही कारण है कि इनकी कविताओं में कोई भी शब्द सिर्फ अपने कोशीय अर्थों के साथ नहीं उपस्थित होता। कवि को 'शब्द-शिल्पी' कहने की सार्थकता इन्हीं की कविताओं में प्रमाणित होती है। 'रोटी' पकने के बाद खाद्य होता है, घाव पकने के बाद मुक्ति देता है, विचार पकने के बाद स्वरूप ग्रहण करता है, केदारनाथ सिंह के यहां सारे-के-सारे शब्द पके हुए होते हैं। अर्थात् इनके पके हुए अनुभव में उपस्थित सारे पके हुए शब्द अपनी पूरी अर्थवत्ता के साथ आते हैं।

केदारनाथ सिंह की 'बाघ श्रृंखला' में इक्कीस कविताएं हैं और ये कविताएं काफी चर्चित रही हैं और पहले से ही पत्र-पत्रिकाओं में खंड-खंड में प्रकाशित, प्रशंसित होती रही हैं। इधर नए सिरे से एक 'बाघ' नाम से संकलित होकर ये कविताएं छपीं भी और इसमें अंतिम रूप से पांडुलिपि तैयार करते समय कवि ने इसमें कुछ नए खंड भी जोड़े हैं। कवि के शब्दों के प्रति साकांक्ष व्यवहार की चर्चा करते हुए, इक्कीस खंडों की इस एक कविता की चर्चा आवश्यक थी। रूप के स्तर पर समग्रता में इन इक्कीस का एक होना और खंड-खंड में इक्कीस होना भी अपनी तरह से व्याख्येय है। पर यदि इन्हें केवल कवि की अंतर्दृष्टि के हवाले से देखा जाए तो यहां कवि का सूक्ष्म अवलोकन अचंभित कर देता है। एक 'बाघ' को जीवन की गतिविधियों में इतने फलकों से देखा जाना कवि की विशाल चिंतनशीलता का परिचायक है। 'बाघ' की चर्चा करते हुए परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं, "यह कविता आधुनिक जीवन और समय की जटिल वास्तविकता को अत्यंत अर्थसघन रूप में प्रस्तुत करती है। इस ढलती हुई शताब्दी के सौंदर्य और आतंक को एक ही बिंदु पर जीने और महसूस करने के लंबे प्रयत्न के रूप में घटित यह कविता लंबे समय तक पाठक को आस्वाद और विश्लेषण का आमंत्रण देती रहेगी और एक विलक्षण उत्तेजना भी (प्रतिनिधि कविताएं : केदारनाथ सिंह)।"

'बाघ' शब्द के उच्चारण से आज भी शैतानी करते बच्चों को डराया जाता है, वार्तालाप करते हुए लोग आज भी कभी हिंसक जानवर के रूप में तो कभी बलशाली जीव के रूप में 'बाघ' की चर्चा कर लेते हैं, पर आज समय के इस मोड़ पर 'बाघ' का स्वरूप केवल

वही नहीं रह गया है जो वह समझा जाता रहा है। स्वयं कवि कहते हैं, 'आज का मनुष्य बाघ की प्रत्यक्ष वास्तविकता से इतनी दूर आ गया है कि जाने-अनजाने बाघ उसके लिए एक मिथकीय सत्ता में बदल गया है। पर इस मिथकीय सत्ता से बाहर बाघ हमारे लिए आज भी हवा-पानी की तरह एक प्राकृतिक सत्ता है, जिसके होने के साथ हमारे होने का भवितव्य जुड़ा हुआ है। इस प्राकृतिक बाघ के साथ—उसकी सारी दुर्लभता के बावजूद—-मनुष्य का एक ज्यादा गहरा रिश्ता है, जो अपने भौतिक रूप में जितना आदिम है, मिथकीय रूप में उतना ही समकालीन।'' इस संकलन की कविताओं में बाघ को जितने रूपों में जैसी अर्थवत्ता दी गई है, वास्तविक जमीन से उसके संबंध को जोड़कर देखते हुए तय होता है कि वाकई बाघ आज हमारे लिए हवा-पानी की तरह प्राकृतिक सत्ता है। यह बाघ है जो पूरे शहर को एक गहरे तिरस्कार और घृणा से देखता है। केदारनाथ सिंह का यह 'बाघ' अज्ञेय के उस 'सांप' की याद दिलाता है जिसे अज्ञेय पूछते हैं कि उसने नगर में बसे बगैर डसना कैसे सीखा, विष कहां पाया। वहां 'सांप' नगर की जिन विकृतियों का परिचायक है, बाघ की घृणा यहां मनुष्य की उससे भी घिनौनी विकृतियों का द्योतक है।

'बाघ' शीर्षक कविता के सारे खंड सही मायने में किसी बाघ की परिभाषा नहीं हैं, यह मौजूदा हालात में मानव जीवन के विविध पहलुओं की तलाश है, यह हमारे परिवेश के अलग-अलग फलक में खंड-खंड जीवन की भली-बुरी, मोहक-बीभत्स तस्वीर है। यहां 'बाघ' को जब छिपने की कोई जगह नहीं मिलती, वह धीरे से उठता है और जाकर किसी कथा की ओट में बैठ जाता है। 'बाघ' के तीसरे खंड का यह 'बाघ' भी मानव जीवन का अंग ही है। यह हमारी चेतना का ही रूप है, उसी की नृशंसता को द्योतित करता है। यह बाघ अपने शिकार का खून पी चुकने के बाद आराम से किसी कथा की ओट बैठा रहता है, यह बाघ अतीत को स्मृतियों में नहीं रखता, भविष्य को सामने नहीं आने देता, इसके पास नैतिकता की कोई परिभाषा नहीं होती, यह अपनी लंबी शानदार परछाईं तक देखने नहीं आता। यह बाघ आज के मनुष्य के निजी वर्तमान को सुखमय और विलासमय बनाने के लिए नैतिकता भूलती चेतना का परिचायक है।

इस कविता में 'बुद्ध' और 'बाघ' का आमना-सामना हमारे मानवीय रिश्तों के दो पाट हो जाने का उदाहरण है। भूख और करुणा के बीच की यह विस्तृत खाई अजब तरह की है। हिमालय की चोटियों पर गिरती बर्फ में बुद्ध भी सिहरते हैं, बाघ भी हिलते हैं, पर विडंबना यह कि एक ही करुणा से त्रस्त रहते हुए भी भूख और करुणा के बीच कोई पुल नहीं बन पाता। यहां गन्ने के खेत में खड़ा बाघ एक सुंदर और विशाल ट्रैक्टर से ईर्ष्या करने लगता है, एक विराट दाने की तरह ट्रैक्टर को देखकर यह बाघ उसकी सारी संभावनाओं पर सोचकर फिर से उसे देखता है और उससे ईर्ष्या कर बैठता है। यह ईर्ष्या और कुछ नहीं, सिर्फ मानव जाति की लिप्सा है, लालसा है, जो आज का हर मनुष्य दुनिया का हर

सुख, हर उपलब्धियां अपने नाम जोड़ना चाहता है, दूसरों की संभावनाओं में स्वयं को फिट कर देना चाहता है, यही लिप्सा, यही तृष्णा उसे ईर्ष्यालु बनाती है। मनुष्य की चुप्पी, उसकी प्यास, उसके दुख के बारे में इतना जिज्ञासु और इतना निरुपाय बाघ आज के मानव जीवन की हताशा है, लाचारी है, जो हर उलझन, हर मुसीबत का उत्तर पा जाने के बावजूद उसके निराकरण में निरुपाय रहता है। जलती दोपहरी में सुस्ता रहे आदमी के कानों में बरगद के गीत गाने की हरकत पर मुग्ध होता बाघ, प्रेम-कथा में व्याप्त जादुई बाघ, अक्षरों को अर्थात् जिसका नाश न हो उसे आधा करके लिखने या सीखने की हरकत पर अथवा 'ईश्वर' जैसा अमूर्त 'शब्द' सीखने पर परेशान और पस्त होता बाघ, रात भर अकेला रोता हुआ और सारे जीव-जंतुओं को अपने रोने का कारण न बताता हुआ अकेला बाघ, अपनी हिंसक प्रवृत्ति पर खीझता, अपने पराक्रम के सदुपयोग से कुछ नया कर पाने की संभावना तलाशता, अपने अहंकार के पिंजरे से बाहर आकर सोचता बाघ जो खरगोश की मुलायम देह को सहलाते हुए अपनी जीभ पर उस कोमलता का स्वाद महसूस करता है—मानवीय स्वभाव का सबरंग उदाहरण है। अनैतिक से नैतिक होने के बीच का महीन और कोमल परदा यहां कितना कमजोर दिखता है—केदारनाथ सिंह ने इस चित्र को जिस तल्खी से पकड़ा है, वह आश्चर्यचकित करता है। जीभ, नाखून के स्वाद और स्पर्श को जिस सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है, उसे देखकर रोमांचित हो जाना पड़ता है। बाघ की मूर्ति का टूट जाना और उसी बाघ की उसी मूर्ति की तलाश भी कवि की गहरी मानवीय दृष्टि का परिचायक है। एक ऋतुचक्र पूरा कर कवि ने बाघ के जितने रूपों को अपनी इस कविता श्रृंखला में प्रस्तुत किया है उसे प्रसिद्ध ओड़िया कवि के शब्दों में देखा जा सकता है कि "इस ढलती हुई शताब्दी के इस अंधे मोड़ पर 'बाघ' दरअसल समय के विध्वंसों के खिलाफ मनुष्य के संघर्ष की लोकगाथा है।"

कवि केदारनाथ सिंह की केवल बाघ कविता ही नहीं, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, इनका पूरा काव्य संसार आतंक और विकृतियों से भरे इस माहौल में कहीं तिनका भर मानवता की तलाश का उद्यम है। यहां विराट लौह सैन्य से लड़ने की ताकत न जुटा पाने की स्थिति में उसे गाली देने और उसके लिए अपमान भरे शब्द टीपने की जरूरत कभी नहीं महसूस की गई है। यहां भाषा की शालीनता, शब्द-प्रयोग का चातुर्य, बिंब निर्माण का कौशल और इन सबके सहारे कविता की आत्मा में एक अजब ढंग से मनोहारी लय की उपस्थिति है, जो पाठकों के उग्र मनोवेग, विकृत मनोविकारों का शमन भी करती है और उन्हें मानवीय ऊर्जा तथा शब्दों की शाश्वतता के प्रति आश्वस्त भी। □

'स्मृतियों के छंद' : डॉ. रामदरश मिश्र के संस्मरणों की किताब

जीवन की सहज सादगी से लिपटे संस्मरण

प्रकाश मनु

हिंदी में कविता, कहानी, उपन्यास के अलावा बाकी विधाएं कुछ दब-सी गई हैं। न ढंग की आत्मकथाएं दिखाई पड़ती हैं, न जीवनियां, न संस्मरण, न इंटरव्यू। यानी लेखक के अंतःसंसार में झांकने की कोशिशें हमारे यहां करीब-करीब नहीं ही होतीं। दूसरे शब्दों में, हमारा साहित्यिक विकास किसी कदर अधूरा और लंगड़ा है। दुख सिर्फ़ यही नहीं कि ऐसा हुआ, बल्कि इससे बढ़कर दुख तो यह कि ऐसा हुआ और इसकी तरफ किसी का ध्यान ही नहीं गया। हिंदी के शुभचिंतक, महंत सब मौन मुग्ध अपने-अपने 'खेल' में लगे हैं। इस लिहाज से यह दौर शायद सबसे ज्यादा दुर्भाग्यशाली और अंधेरा ही कहलाएगा। और यह आकस्मिक नहीं कि इस दौर में एक ओर जहां लेखक हाशिए पर है, वहीं हमारी आस्थाओं के लिए सबसे बड़ा खतरा भी पैदा हो गया है। शायद इसलिए कि दोनों में कोई गहरा संबंध भी है। जिस समाज में लेखक का सम्मान न हो, उसे जीवित समाज कहने में हिचक होती है।

जो भी हो, इधर कुछ बरसों में बरफ थोड़ी पिघली है। यदा-कदा ही सही, संस्मरणों और इंटरव्यूज की कुछ अच्छी किताबें आई हैं, कुछ ढंग की आत्मकथाएं भी। रामदरश जी की आत्मकथा 'सहचर है समय' कुछ बरस पहले पढ़कर मैं चौंका था—आत्मकथा यह भी हो सकती है? इसलिए कि उस पूरी आत्मकथा में खुद से ज्यादा औरों के दुख-सुख और संघर्षों की कथाएं थीं—वे, जिन्हें उन्होंने साथ-साथ चलते देखा, महसूस किया था।

कुल मिलाकर यह आत्मकथा खुद की न होकर, 'समय' की आत्मकथा बन गई थी।

इधर 'स्मृतियों के छंद' (रामदरश जी के संस्मरणों की किताब) पढ़ रहा था, तभी उनसे अचानक मुलाकात हुई। मैंने कहा—"रामदरश जी, एक बार फिर से आपकी आत्मकथा को पढ़ रहा हूं।" सुनकर हंसे—"क्यों? कैसे?" और फिर पूरी बात सुनकर उनकी सहज, निश्छल हंसी बिखर गई, उनके सहज स्नेह की तरह! असल में ये संस्मरण एक बार फिर हमें उन व्यक्तियों से मिलने का मौका देते हैं जिनके बीच उनका व्यक्तित्व तराशा गया और वह समय बार-बार आता है जिनके बीच थपेड़े खा-खाकर रामदरश मिश्र जैसा खुरदरा, स्वाभिमानी व्यक्तित्व निर्मित होता है। इस लिहाज से, इस किताब का अगर दूसरा नाम कुछ हो सकता था, तो वह है—'जिनसे जीवन लिया है'!

'स्मृतियों के छंद' में बिकाऊ पंडित, मदनेश जी, रामगोपाल शुक्ल, विज्ञ जी जैसे गांव की मिट्टी में सने कुछ ऐसे कम जाने जाते या अनजाने लोगों की कथाएं भी हैं जिन्हें याद करने से बचने में शायद कुछ लोग शहरी कुशलता समझते। लेकिन खुशी की बात यह है कि रामदरश मिश्र इतने 'सभ्य' नहीं। वह आज जो कुछ हैं, उसे बनाने का सर्वाधिक श्रेय शायद इन्हीं को देते हैं और दिल्ली में इतने बरस रहकर भी उनके माटीपुते चेहरों की पीड़ाएं और सवाल आज तक नहीं भूल पाए। दूसरी ओर हजारीप्रसाद द्विवेदी, शमशेर, जैनेंद्र, प्रभाकर माचवे, ठाकुरप्रसाद सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, देवीशंकर अवस्थी, उमाशंकर जोशी, सावित्री सिन्हा और भवानीप्रसाद मिश्र जैसे बड़े और दिग्गज साहित्यिकों के संस्मरण हैं। और यहां भी रामदरश जी इनके व्यक्तित्व से आतंकित कहीं नहीं हैं। बड़ी सहजता से उनके व्यक्तित्व की उलझी हुई, गझिन रेखाओं को सुलझाते नजर आते हैं—और इतनी सादा और सुलझी हुई भाषा में अक्सर इतनी बड़ी बातें कह जाते हैं कि हमें ताज्जुब होता है, पर रामदरश जी को अपने अनुभवों पर पूरा भरोसा है और वह अपनी भरोसेदार धीमी लय-चाल में, बड़े सधे हुए आत्मविश्वास के साथ अपनी बात कह जाते हैं।

यह कहना तो शायद ठीक नहीं होगा कि अलग-अलग लेखकों के ये संस्मरण एक ही जैसा प्रभाव उपजा पाए हैं (यह दरअसल उस 'दूरी' पर निर्भर करता है जहां खड़े होकर वह लेखकों को देखते हैं, मसलन ठाकुरप्रसाद सिंह या हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ वह जितने खुले या हिले-मिले हैं, जैनेंद्र, प्रभाकर माचवे, उमाशंकर जोशी के साथ उतने नहीं!) लेकिन रामदरश जी के ये संस्मरण विश्वसनीय बहुत हैं, इसमें शायद ही किसी को संदेह हो! रामदरश जी के साहित्यिक व्यक्तित्व की विशेषता उनकी सहज सादगी इन सभी संस्मरणों में नजर आती है तो भी किशोर काल के अनुभवों में लिपटे बिकाऊ पंडित, मदनेशजी, रामगोपाल शुक्ल या विज्ञ जी के संस्मरणों में जो एक गहरी-गहरी-सी आत्मीय गंध और अपनापा है, वह साहित्यिक व्यक्तित्वों पर लिखते समय कुछ दब-सा गया है और कहीं-कहीं तो वह संस्मरणों के नाम पर गोष्ठियों या सेमिनारों के सामान्य और औपचारिक अनुभवों

को सिर्फ तरतीब में पिरोते नजर आते हैं। या उनका बहुत-सा हिस्सा आलोचनात्मक मूल्यांकन या कृतियों के परिचय में खर्च हो गया है और हम उनके व्यक्तित्व के भीतरी घुमावों से अपरिचित ही रह जाते हैं। दूसरे शब्दों में बिकाऊ पंडित या मदनेशजी के संस्मरणों में जो एक गाढ़ा-गाढ़ा-सा कथारस है, वह आगे चलकर क्रमशः विरल होता जाता है—लेकिन वह विलुप्त कहीं नहीं होता, इसलिए कि रामदरश जी अक्सर छोटी-छोटी बातों के सहज वर्णन से उनमें रस भरते रहते हैं और उनके व्यक्तित्व की अक्सर ऐसी रेखाओं को उभारते हैं, जिनसे उनका पूरा व्यक्तित्व खुल-खुल पड़ता है। फिर ठाकुरप्रसाद सिंह, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सावित्री सिन्हा और गिरिजाकुमार माथुर के संस्मरण तो एकदम निराले और आत्मीयता से सराबोर हैं। इनमें साहित्यिक मूल्यांकन की कोशिश जो कभी-कभी हल्का व्यवधान भी बनती है (और एकाध जगह असंगत या पूर्वाग्रहयुक्त भी लगती है!) बहुत कम या आनुषंगिक रूप में है।

इन चरित्रों में पहली स्मृति रामदरश जी को बिकाऊ पंडित की है। और यह स्मृति अब भी जैसे उनके भीतर बाल-मन की गीली मिट्टी पर लिखी हुई है—"वह आए तो उनकी आंखों का तेज देखकर भय लगा, किंतु उस तेजी के भीतर छिपी हुई वत्सलता उभरती गई और आतंक आश्वस्ति में बदलता गया। फिर तो उस गंवई मास्टर के व्यक्तित्व और प्रतिभा के न जाने कितने रंग उभरते गए। वह हर विषय के पंडित थे। हर विषय को पढ़ाते समय उनका रोम-रोम जैसे स्फूर्त हो उठता था ..."

धीरे-धीरे इस गंवई मास्टर ने जैसे-जैसे रामदरश के भीतर छिपी प्रतिभा को पहचाना, उनकी घनिष्ठता के तमाम रंग बिखरने लगे। रामदरश जी के कवि को पहला साहित्यिक संस्कार यहीं से मिला। धीरे-धीरे निकटता यहां तक पहुंची कि वह बिकाऊ पंडित की तेजस्विता के भीतर छिपी कमजोरियों को भी देखने लगे। 'मौसा जी' कहने से बिकाऊ पंडित चिढ़ते थे, पर मगन भी हो जाते थे क्योंकि इससे वह स्त्रियों के सान्निध्य का सुख भी पा लेते थे। इस संस्मरण में रामदरश जी ने एक बहुत जरूरी सवाल उठाया है जो अंत तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता—"बिकाऊ पंडित अपने आप में जो थे, सो थे, लेकिन लगता था कि इस देश और समाज के सामने एक प्रश्न भी थे। हां, प्रश्न कि ऐसी प्रतिभाओं को आगे बढ़ने और ऊंचे उठने का अवसर क्यों नहीं मिलता?"

बिकाऊ पंडित के अलावा इस दौर में जिनसे गहन साहित्य-चर्चा का सुख मिलता था, उन गणेशदत्त मिश्र 'मदनेश' जी को भी रामदरश कभी नहीं भूल पाए—"एक जमींदार परिवार का साहित्यिक बेटा। लोग कहते—कितना निकम्मा आदमी है। इतनी बड़ी जमींदारी बरबाद कर दी। कुछ करना न धरना, बस दरवाजे पर बैठकर किताबें पढ़ना और टोपी लगाए घूमना। और ..." इस 'पैसे' और 'फायदे' वाली दुनिया में ऐसे आदमी की भला क्या पूछ? अगर गरीबों का खून चूस-चूसकर उन्होंने खूब संपत्ति जमा कर ली होती तो वह

सबके पूज्य होते! और अब? बेटा पागल हो गया, पत्नी को तपेदिक हो गया, लेकिन फिर भी वह निरुद्वेग अपने रास्ते पर चलते जाते हैं। इस साहित्य चर्चा में कभी-कभी 'क्रूर' व्यवधान भी आते हैं—"घर के अंदर पत्नी ने कहा होगा—खाने के लिए अनाज नहीं है और बाहर हलवाहा कह रहा है कि बीज नहीं है—दोनों अभावों का गहरा दंश अंदर-अंदर झेलते हुए भी मदनेश जी हंसने का बहाना ढूंढ़ रहे थे और बहाना था साहित्य ..."

अभावों के बीच भी ठठाकर हंसना हर किसी के बस की बात नहीं। यह मदनेश जी ही हैं जो हलवाहे के यह कहने पर कि "मालिक, कब से कह रहा हूं बीज ले आइए, आप सुनते नहीं। खेत उकठ रहे हैं ..." जवाब में एक खीजभरी मुसकराहट के साथ कह सकते हैं, "अरे, इधर कालिदास उकठ रहे हैं, तुझे खेत उकठने की चिंता लगी हुई है ..." हालांकि रामदरश जी की खासियत यह है कि वह किसी भी चरित्र को सरलीकृत करने की कोशिश कतई नहीं करते। रस-चर्चा में निमग्न रहने वाला मदनेश जी का कवि निम्नवर्गीय नारियों के साथ एक रूमानी लगाव महसूस करता है और उसके सहारे अपने बहुत सारे अभावों को जी लेता है, इसे वह हरगिज नहीं छिपाते। गांव में रहकर भी नया से नया पढ़ने की मदनेश जी की ललक कभी खत्म नहीं होती और वह रूस में हो रही हलचलों पर भी अपनी नजर रखते हैं। दूसरी ओर मदनेश बूढ़े भी नहीं होना चाहते। बूढ़े होने से उन्हें घृणा है और जब उन्हें ऐसे किसी आविष्कार के बारे में पता चलता है जिससे आदमी बूढ़ा नहीं होगा, तो उनकी उत्सुकता का कोई अंत नहीं रहता। सचमुच मदनेश जी के व्यक्तित्व की रेखाएं इस संस्मरण में बड़ी जिंदा और बोलती हुई लगती हैं।

इसी तरह 'युवा आचार्य का आश्रम' एक सर्जनात्मक किस्म का संस्मरण है जो ढरसी स्कूल के संचालक रामगोपाल शुक्ल के व्यक्तित्व की बड़ी अंतरंग झांकी प्रस्तुत करता है। उनका बलशाली शरीर, बहु-आयामी व्यक्तित्व, स्वाभिमान, तेज, काव्य-रसिकता सब-कुछ खूब उभरा है। वह प्रसंग जिसमें बालक रामदरश मिश्र अपने एक मित्र के साथ स्कूल छोड़ने का निश्चय करके संदूक एक हलवाई के पास छोड़ आते हैं और छिपकर भागते समय अपने अध्यापक की आंखों में गहरा ममत्व उन्हें वापस खींच लाता है, सचमुच रुला देने वाला है। ऐसे सतेज आदमी की राजनीति के गुंजलक में फंसकर दुर्गति तो कहीं अधिक ट्रेजेडिक है। इस पर रामदरश जी की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है—"पंडित जी पान खाते थे, खूब खाते थे। स्वयं पनडब्बा रखते थे। उन्हें दांत का कैंसर हो गया और इस दुनिया से चले गए। ... उनकी मौत सांस्कृतिक व्यक्तित्व के राजनीतिक व्यक्तित्व में विलय के कारण हुई। दुनिया चाहे जो माने, मेरा मन तो यही मानता है।" यानी आलोचना भी कितनी गंभीर, कितनी सम्मानपूर्ण! यह चीज़ आज की दुनिया में दुर्लभ है।

ठीक है, रामगोपाल शुक्ल यूं चले गए ... तो फिर उस 'पागल प्रतिभा' यानी विद्याधर द्विवेदी विज्ञ के पागल हो जाने का रहस्य? वह तो अपने 'सांस्कृतिक व्यक्तित्व' का किसी

'राजनीतिक व्यक्तित्व' में विलय नहीं कर रहे थे? तो फिर क्यों हुआ पागल विद्याधर द्विवेदी विज्ञ जैसा प्रतिभावान लेखक, जिसने 'धरती पर आग लगी, पंछी मजबूर है, क्योंकि आसमान बड़ी दूर है ...' जैसे मशहूर गीत लिखे और काफी ख्याति भी अर्जित की? शायद उनके निजी अभाव और साहित्य की राजनीति जो किसी 'जीनियस' को आसानी से पचा नहीं पाती, इसके पीछे रही हो! और यह साहित्य की राजनीति कभी-कभी इतनी घातक होती है कि वह विद्याधर द्विवेदी विज्ञ जैसे ठोस मार्क्सवादी, विचारशील व्यक्तित्व को पहले विभाजित व्यक्तित्व में बदलती है और फिर विक्षिप्त करके मार डालती है। विक्षिप्तता के दौर में विज्ञ जी के दो ही काम थे—कविताएं लिखना और लोगों से पैसे मांगना। पैसे उधार मांगकर वह शराब पीते थे और कहा करते थे—"आगरा में मुझसे मिलने के लिए अमरीकी अभिनेत्री मार्लिन मुनरो आई थी। कहने लगी—आपके समान जीनियस लेखक के साथ के लिए मैं कब से बेचैन थी। चलिए, मेरे साथ चलिए।" मैंने कहा—"अरे, जा-जा। दुनिया की सारी औरतें खेला करती हैं। मैं किसी एक्ट्रेस-फैक्ट्रेस के साथ नहीं जाता।"

किसी हद तक इसी पागल प्रलाप में विद्याधर द्विवेदी विज्ञ की कुंठा और पागल होने की वजहें भी छिपी हैं। रामदरश जिस सहानुभूति और अपनापे से सहलाकर, उसके दर्द का चित्र खींचते हैं, उससे हम किसी तेज धार वाली कहानी की तरह इस 'पागल प्रतिभा' की ट्रेजेडी की गिरफ्त में आने से बच नहीं सकते।

इसके अलावा बाकी संस्मरण विख्यात और जाने-माने साहित्यकारों के हैं और उनमें आत्मीयता से ज्यादा जोर कहीं-कहीं उनकी साहित्यिक छवि को आंकने में चला जाता है। तो भी कुछ संस्मरण तो सचमुच बेमिसाल हैं। प्रतिष्ठित साहित्यिकों पर लिखते समय बड़ी बारीकी से और अनायास रामदरश उनके लेखकीय व्यक्तित्व के विकास का ग्राफ भी दर्शाते जाते हैं। उदाहरण के लिए ठाकुरप्रसाद सिंह जिस गरीबी से ऊपर उठ रहे थे और जिसके कारण उनके व्यक्तित्व में एक पुख्ता किस्म का स्वाभिमान आया, उसे उन्होंने जगह-जगह रेखांकित किया है और इस बात की ओर इंगित भी किया है कि क्यों उनका व्यक्तित्व औरों से इस कदर भिन्न था। वह जीवन-भर खानों में बांटकर साहित्य को देखने-परखने के खिलाफ रहे। गुटबाजियों के खिलाफ रहे और खुले में बैठकर हंसते-अट्टहासते रहे। यहां तक कि उनकी 'प्रगतिशीलता' भी कठमुल्ले किस्म के मार्क्सवाद से कोई रिश्ता नहीं साध सकी। हिंदी संस्थान के निदेशक बने तो भी न वह कभी पूरी तरह अफसर हो पाए और न अपनी यारबाश 'चौपाली' प्रवृत्ति छोड़ सके। उनके व्यक्तित्व की इस गहरी-गहरी अनबन या कि आत्मिक झगड़े को रामदरश मिश्र ने खूब पकड़ा है—"लेकिन ठाकुरप्रसाद का चरित्र अफसर का तो था नहीं कि वह इन सुविधाओं और अधिकार-बोध से संतुष्ट होते या उन्हें और पाने की प्रतिस्पर्धा में भागते रहते। उनका साहित्यकार मन इनसे कब बंध सकता था? वे तो जहां भी रहे, अपनी साहित्यिक मस्ती में रहे, अल्हड़पन के साथ रहे। न किसी पर

रोब जमाया, न किसी से रोब खाया।'' इसकी तुलना अगर गिरिजाकुमार माथुर के अफसरी दबदबे से की जाए—रामदरश जी ने जिसका विस्तार से वर्णन किया है, तो दोनों के चरित्र की रेखाएं खुद-ब-खुद उभर आती हैं। यह किसी को छोटा करने या बड़ा दिखाने के लिए नहीं, उनके व्यक्तित्व की मूल बनावट को समझने के लिहाज से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इसी तरह गांधी भवन के सिलसिले में गांधी और हेलन की तुलना करके नकली गांधीवादियों पर जो कठोर व्यंग्य ठाकुर करते हैं, वह भीतर तक धंस जाता है। दूसरी ओर 'अरे भैया, इकानेया दर्द से कविता नहीं बनती' जैसे हल्के-फुल्के हास्य के छींटे तो उनके व्यक्तित्व से जब-तब छूटते ही रहते हैं। इसके पीछे हो सकता है कोई दर्द भी रहा हो, पर ठाकुर कभी इसका बयान नहीं करते। रामदरश जी ने हल्के से इशारा किया है कि उनकी अनपढ़ पत्नी से उनके सभी दोस्त बेहद त्रस्त और आतंकित रहते थे और खुद ठाकुर भी उनसे दबते थे, पर रामदरश जी का आस्थावादी मन उस रुक्ष स्त्री के भीतर की ममतालु औरत की तस्वीर किसी न किसी तरह दिखा ही देता है—''वे भाभी जी पर हावी होने के स्थान पर उनसे डरने का अभिनय करते थे और कटु से कटु प्रसंग को अपने व्यंग्य-विनोद से झेल लेते थे। भाभी जी पढ़ी-लिखी नहीं हैं और मां भी नहीं बन पाईं, इसलिए उनकी भाषा, उनका व्यवहार पोलिश्ड नहीं था। उसमें रुक्षता भी थी ... वे इस बात को जानते थे कि अपनी भाषा की रुक्षता और अनगढ़ता के बावजूद यह औरत बहुत ममतालु है, बड़ी है।''

'सर्जना ही बड़ा सत्य है' में हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व की कुछ नई और बिल्कुल अलग-अलग-सी रेखाएं हैं। उनके ठहाकों और फक्कड़ता में छिपी हुई करुणा की तस्वीर को रामदरश बड़े सलीके से दिखा पाए हैं। एक विदेशी युवती से इंटरव्यू के प्रसंग में उनका फक्कड़ चरित्र खूब उभरा है तो रामदरश जी के बारे में कुछ विघ्न-संतोषियों द्वारा उल्टी-सीधी बातें उड़ा दिए जाने पर उनकी रातभर करवटें लेती पीड़ा एक नई ही तस्वीर उकेरती है। इसी तरह एक 'कहानीकार' के द्वारा खाने पर बुलाये जाने पर उसकी लेखिका-पत्नी के दर्द के खुलने का प्रसंग और उस मौके पर कहानीकार को मीठी मार लगाते पंडित जी का हास्य-बोध गजब का है। और शायद इस ओर भी रामदरश ही पहली बार इंगित कर पाए हैं कि अपने उपन्यासों में ही नहीं, आलोचना और इतिहास-लेखन में भी द्विवेदी जी सर्जक ही पहले हैं, आलोचक बाद में।

इन संस्मरणों की यह खासियत है कि रामदरश जी लेखकों के व्यक्तित्व की निजत्वपूर्ण रेखाएं पहचानते हैं, इसलिए कुछ ही रेखाओं में वह उनके व्यक्तित्व की आत्मीय तस्वीर आंक लेते हैं। मसलन डॉ. सावित्री सिन्हा पर लिखते हैं तो वह सिर्फ चन्द शब्दों में उनकी एक मुकम्मल तस्वीर आंखों के सामने ले आते हैं—''सावित्री जी खूब खुलकर हंसती थीं। उनकी उन्मुक्त हंसी उनके अकुंठ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति थी। अपनी हंसी से संबंधित वह कई किस्से सुनाती थीं। उनका सार यह था कि पुरुष समाज किसी स्त्री का इस प्रकार

खिलखिलाकर हंसना पसंद नहीं करता। ... यह क्या बात हुई कि सास-ससुर या जेठ जी लोग बैठे हों या समाज के तमाम बुजुर्ग या बड़े लोग ... बैठे हों और औरत खिलखिलाकर हंस रही हो। है न यह बेशर्मी और बेअदबी की बात।" और उनमें एक सहज मित्र भी था जो विभागाध्यक्ष हो जाने पर रामदरश जी के कुछ कट जाने पर गुस्से और करुणा के साथ उन्हें सुना सकता है—"अध्यक्ष बनकर मैंने कोई अपराध कर दिया है कि मित्र लोगों ने मिलना बंद कर दिया।" इसी तरह दो पंक्तियों में वे शमशेर जी का एक बहुत आत्मीय और मुकम्मल चित्र आंकते हैं, "शमशेर जी हंसते थे और खूब हंसते थे—बच्चों की तरह हंसते थे। हंसी-हंसी में किसी-किसी पर व्यंग्य भी करते थे, लेकिन वह व्यंग्य साधु होता था, दुष्ट नहीं।" और उनमें सरलता इस कदर थी कि रामदरश जी के यह पूछने पर कि इतने अमूर्त और रूपवादी कवि होने पर भी उन्हें प्रगतिशील कवि क्यों माना जाता है—शमशेर मुस्कराकर जवाब देते हैं—"यह इनायत मुझ पर इसलिए बख्शी जाती है कि मैं एक समय प्रगतिशील लेखक संघ का सदस्य रहा हूं।" ऐसी बेतकल्लुफ सादगी भला किस कवि में होगी! शमशेर को दसियों पन्ने खर्च करके भी आप उतना नहीं उभार सकते, जितने वह अपने इस छोटे-से जवाब से उभरते हैं।

कई बार इन संस्मरणों में व्यक्तित्वों की बारीकियां भी बड़े सहज ढंग से और अनायास ही खुलती हैं। मसलन यहां उमाशंकर जोशी के विनम्र तेज की चर्चा है तो देवीशंकर अवस्थी के कुछ-कुछ उद्धत और खुद्दारी से जुड़े हुए तेज की भी। और दोनों का फर्क भी बड़ी सहजता से सामने आ जाता है। उमाशंकर जोशी के तेज में धीरज और गांभीर्य कहीं ज्यादा है और देवीशंकर अवस्थी में तेजी अधिक है—कुछ इस ढंग की आक्रामक तेजी कि वह कभी-कभी तो भरी सभा में ललकार बैठते हैं—"वाह, नामवर जी, आखिर बेईमानी की भी कोई हद होती है।" ऐसे ही गिरिजाकुमार माथुर वाले संस्मरण में पूर्वांश काफी बोझिल और भारी-भारी- सा है, लेकिन जैसे ही रामदरश उनके वरिष्ठता-बोध की 'गांठ' को छूते हैं, गिरिजाकुमार माथुर अपनी कमजोरियों के बावजूद मुस्कराते हुए जमीन पर आ खड़े होते हैं। उनका यह वरिष्ठता-बोध साथ के लोगों को कई बार अटपटा लगता था और कई बार विचित्र स्थितियों में भी डाल देता था, लेकिन माथुर साहब का शायद इस मामले में कोई बस नहीं रह गया था और इस वरिष्ठता-बोध के साथ आ लगा 'अफसर' उन पर इस कदर हावी था कि इस कारण अपने पोते से भी वह 'बाबा' की बजाए 'साहब' ही सुनना चाहते थे। दूसरों को भले ही अटपटा लगे, माथुर साहब के लिए यह सहज था।

हालांकि यह रामदरश जी का उदार 'विजन' ही कहलाएगा कि एकाध दफे के मामूली झगड़े के बावजूद वह उनकी इस 'अफसर ग्रंथि' या साहबपने को भी बड़ी सहानुभूति से देखते-परखते हैं और उसके लिए आज के युग की साहित्यिक राजनीति को जिम्मेदार मानते हैं, जिसमें चार कविताएं लिखने वाले 'महाकवि' घोषित हो जाते हैं और जीवन-भर कविता

लिखने-जीने वालों को झाड़-बुहार कर कूड़ेदान में डाल दिया जाता है।

रामदरश जी के संस्मरणों में आत्मीयता का सेंक कई बार थोड़ा कम भी लगता है, मगर वह शायद इसलिए कि वह जीवन की सहज मर्यादा को जीने वाले लेखकों में से हैं। उनके यहां न दिखावे की आवारागर्दी है, न शहीदाना मुद्राएं, न फालतू की उठा-पटक, न धौल-धप्पा और न शराबनोशी के लिए रात भर यहां से वहां भटकने वाली सनकें। जिन्हें संस्मरणों में इस तरह की 'गरम' चीज़ें पढ़नी हों—जिसका चस्का कुछ लोगों ने इधर पैदा कर दिया है, उन्हें रामदरश जी को हरगिज नहीं पढ़ना चाहिए। असल में रामदरश उन लेखकों में से हैं जो जीवन के मूल्य-बोध से कभी पृथक हो ही नहीं सकते। घर-परिवार का संस्कार उनके भीतर गहरी जड़ें जमाए हुए है। यहां तक कि सावित्री सिन्हा जब फब्ती कसती हैं कि तुम कहां के आधुनिक हो, न शराब पीते हो, न चुरुट पीते हो—तो वह खीज कर कहते हैं—"नहीं चाहिए ऐसी आधुनिकता।" और इसीलिए भूमिका में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि किसी को 'नंगा' करने के लिए वह ये संस्मरण नहीं लिख रहे। वह ऐसे 'यथार्थवादी' साहित्य के भी कायल नहीं हैं जो व्यक्तित्वों को एकदम नंगा कर देने में ही सुख पाता है। वह रामदरश मिश्र के व्यक्तित्व की मौलिक बनावट ही है कि वह दोष-दर्शन की बजाए हर जगह कुछ-न-कुछ अच्छा खोजने की कोशिश करते हैं। इसीलिए मदनेश जी पर खेतों में काम करती औरतों की फब्ती को बस हौले से सरका देते हैं। बिकाऊ पंडित के 'मौसा जी' रूप पर हल्की चुटकी भर लेते हैं। ठाकुरप्रसाद सिंह की पत्नी की रुक्षता में एक बड़ी ममतालु औरत देखते हैं और देवीशंकर अवस्थी की इस टिप्पणी पर कि "हां, देखिए बड़े आलोचकों के साथ चलने-चलते हम लोगों की भी चर्चा कर दीजिएगा", वह मित्रता के रस में भीगी-भीगी-सी थाप लगाते हैं। यहां तक कि 'जल टूटता हुआ' को बार-बार 'टूटा जल' कह देने वाले और इसे 'क्या फर्क पड़ता है' की मस्ती में छिपा लेने वाले डॉ. माचवे को भी वह ग्रेस मार्क्स देते हैं—"लेकिन फर्क पड़ता है, फर्क पड़ा। हिंदी जगत जितने मेधावी विद्वान और लेखक से वह नहीं पा सका, जिसे वह पा सकता था। लेकिन जितना पाया है, वह भी डॉ. माचवे के प्रति कृतज्ञ होने के लिए कम नहीं है।" इसी तरह 'सबके लिए खुला एक घर' की व्यंजना को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं—"इस परिवार में मैंने कई आवश्यकताग्रस्त साहित्यकारों के लिए सक्रिय स्नेह बरसते देखा। डॉ. माचवे और श्रीमती माचवे ने बड़े स्नेह से कई साहित्यकारों को अपने परिवार में आश्रय दिया है—उन्हें छोटा बनाकर नहीं, समान हैसियत देकर। मुझे मालूम है कि अपने स्नेह की छांह में बैठे हुए साहित्यकारों से डॉ. माचवे बार-बार उपेक्षित भी हुए, किंतु उन्होंने जरूरतमंद साहित्यकारों को स्नेह देने की अपनी आदत नहीं छोड़ी।"

यह कृतज्ञता रामदरश जी और उनकी पीढ़ी के लेखकों में तो है कि वे कहीं से कुछ भी लेते हैं तो विनम्र होकर आभार प्रकट किये बगैर नहीं रहते, लेकिन क्या हमारी पीढ़ी में

भी यह है? इस सवाल का जवाब देने में कम-से-कम मुझे तो उलझन होती है। ... क्या यही कारण है कि हमारी पीढ़ी के पास गहरी आस्थाएं ही नहीं, बेहतर संस्मरण भी आज रह नहीं गए?

यूं ऐसा नहीं कि इन संस्मरणों की सीमाएं नहीं हैं। सच तो यह है कि इनमें से कुछ की सांस इतनी जल्दी टूट जाती है कि अपेक्षित प्रभाव बनते-बनते सिमट जाता है। कुछ संस्मरणों में गहराई कम है और आधे-अधूरे चित्र ही बन सके हैं। कहीं-कहीं मूल्यांकन संबंधी झमेले भी हैं जो व्यवधान बनते नजर आते हैं—खासकर तब जब हमें लगता है कि शमशेर जैसे कवि की तुलना में भवानीप्रसाद मिश्र को कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। ... लेकिन इन सारी खामियों (या असहमतियों!) के बावजूद इन संस्मरणों का जो गाढ़ा-गाढ़ा जीवन-रस और विश्वसनीय सादगी है, वह तो अपनी जगह है ही। और उन्हीं को मद्देनजर रखते हुए हमें सच में इन जीवंत संस्मरणों के लिए रामदरश जी का शुक्रगुजार होना चाहिए। □

स्मृतियों के छंद (संस्मरण) : रामदरश मिश्र, प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-2; संस्करण 1995; पृष्ठ 143; मूल्य 95 रुपये

अच्छे व्यंग्य के गुणों से युक्त कृति

विश्वमोहन तिवारी

मैं यह मानता हूं कि मैं माना हुआ आलोचक या समीक्षक नहीं हूं, किंतु यह अधिकार मुझे प्रेम जनमेजय ने ही दिया है। बीच यात्रा के अंत में वे पाठक से कहते हैं—''संग्रह की रचनाओं का चुनाव मेरा है, संख्या का निर्णय भाई श्रीकृष्ण का और आलोचना का अधिकार आपका।''

अब 51 की संख्या हमारे यहां शुभ मानी जाती है, शायद इसलिए श्रीकृष्ण जी ने यह संख्या चुनी हो और प्रेम जनमेजय चूंकि इस शुभ-अशुभ में विश्वास नहीं करते हैं, इसलिए इस संख्या के चुनाव का श्रेय उन्होंने चुनावकर्त्ता को दे देना ठीक समझा।

ज्ञानमण्डल के हिंदी साहित्यकोश में व्यंजक शब्द का अर्थ दिया है, ''व्यंजक शब्द अपना कार्य व्यंजना-शक्ति द्वारा संपन्न करता है और उसके द्वारा द्योतित अर्थ को 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। ... क्योंकि अर्थ के तीन भेद होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य।'' इसी कोश के अनुसार व्यंग्यगीति शब्द अंग्रेजी के 'सैटायर' के आधार पर निर्मित है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, क्योंकि लोक भी अर्थों का निर्माण करता है। किंतु जब 'सैटायर' शब्द की परिभाषा में व्यंजकता को नितांत आवश्यक नहीं माना है, प्रसिद्ध कोश-निर्माता सैमुएल जान्सन के अनुसार 'सैटायर' ''वह कविता है जिसमें दुष्टता तथा मूर्खता की निंदा की जाती है।'' और लगभग यही परिभाषा हिंदी में भी स्वीकार की गई और अंग्रेजी की ही भांति वह पद्य से यह गद्य में आ गया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हिंदी में तथा भारतीय भाषाओं में 'सैटायर' शब्द के अनुवाद के पूर्व यह विधा थी ही नहीं, वरन् हमारा साहित्य उद्धव की खिल्ली उड़ाने से लेकर विवाहों में गाई जाने वाली गालियों तक, व्यंग्य से भरा पड़ा है। यह ठीक है कि वह व्यंग्य अधिक प्रभावशाली होता है जिसमें व्यंग्यार्थ का अर्थात् व्यंजनाशक्ति का उपयोग किया जाये। किंतु जब इन दो भिन्न अर्थों में

इतनी निकटता है तब दो अर्थों के लिए दो अलग शब्द होना वांछनीय है। और सैटायर के लिए व्यंग्य के स्थान पर सीधा-सादा व्यंग्य शब्द इस समस्या को हल कर सकता है तथा व्यंग्य में 'वि अंग' का अर्थात् किसी अंग को विशिष्ट करने का अर्थ आता है। संभवतः इसी अंग्रेजी स्रोत के कारण इसे (व्यंग्य को) कुछ साहित्यकार एक स्वतंत्र विधा नहीं मानते हैं या इसलिये भी कि व्यंग्य का उपयोग साहित्य की सभी विधाओं में शैली के रूप में पुरातन काल से चला आया है। किंतु जब लगातार निबंध या कविता में व्यंग्य ही प्रमुख हो तब वह विधा नहीं तो और क्या हो सकती है!

सार्थक तथा तीक्ष्ण व्यंग्य रचना के लिये प्रखर शब्द शक्ति, हृदय में मूल्यों की गहरी छाप, समाज तथा मनुष्य को पहचानने की शक्ति, मिशनरी के समान साहस तथा निष्ठा, करुणा तथा मानव मात्र से प्रेम और सूक्ष्म अवलोकन शक्ति आवश्यक गुण हैं, जिनकी सहायता से व्यंग्यकार अपनी रचनाशीलता या सृजनक्षमता के अनुसार व्यंग्य की रचनाएं रचता है। यह असाधारण संयोग है कि प्रेम जनमेजय में यह सारे गुण मौजूद हैं, कोई कम या कोई अधिक मात्रा में क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि एक व्यंग्यकार में यह सारे गुण मौजूद हों और बराबर या संतुलित मात्रा में हों। और इसका अर्थ यह भी नहीं निकलता कि प्रेम की 51 रचनाएं सर्वोत्कृष्ट रचनाएं हैं, इनमें से लगभग 17-18 रचनाएं अत्यंत साधारण हैं और मुझे ऐसा लगा कि वे रचनाएं उनके प्रारंभिक काल की रचनाएं होंगी, उदाहरण के लिए मनुष्य और ठग, जाना सुदामा का कृष्ण से होली खेलने, जाना पुलिसवालों के यहां इक बारात में, शिक्षा खरीदो : शिक्षा बेचो, राजधानी में गँवार, कविते तेरा क्या होगा आदि-आदि। इन रचनाओं में वे घटना की सतह पर ही रहते हैं, यदि प्रतीक हैं तो वे भी उथले हैं। उनके साथ वे न्याय नहीं कर पाये हैं। उदाहरण के लिए 'ठग और मनुष्य' रचना में चार ठग चार प्रतीक के रूप में हैं, दूसरा ठग साधु के प्रतीक के रूप में आया है और उसी वेश में आया है। वह एक मनुष्य को कहता है कि यह संसार जो सब दिखता है माया है, दृश्यमान संसार असत्य है जो कि उसका लक्ष्य नहीं होना चाहिए और अंततः वह साधु उस मनुष्य की आंखें फोड़ देता है और उसका मस्तिष्क निकालकर अपने पास रख लेता है। इस तथ्य को कि तथाकथित या ढोंगी साधु लोग आपके विचार-तंत्र पर अधिकार कर लेते हैं, आपकी दृष्टि बदल देते हैं, प्रेम जिसे अतिश्योक्ति से कहते हैं वह विश्वसनीय तो नहीं ही लगती, संप्रेषणीयता खो देती है तथा स्थूल और भोंड़ी लगती है। उसका कारण शायद अंग्रेजी में है, एलिज़ाबेथकालीन साहित्यिक विश्वास करते थे कि सैटायर या व्यंग्य अनगढ़, स्थूल तथा भोंड़ा होना चाहिए। यह सोच उनमें एक शाब्दिक भ्रम के कारण आ गई थी। मूल रूप में सैटायर लैटिन शब्द 'सटुरा' से आया था, किंतु बाद में उसके ग्रीक या यूनानी शब्द सैटिर से आने का भ्रम हो गया तथा यूनानी सैटिर का अर्थ आधा मनुष्य तथा आधा जानवर होता है जो कि असभ्य, अनगढ़ तथा भोंड़ा ही हो

सकता है। यह भ्रम फिर सत्रहवीं शताब्दी में दूर किया गया। इसी तरह तीसरा ठग जो राजा के वेश में राजत्व का प्रतीक है, उस मनुष्य को सुरक्षा देने के नाम पर उसकी जीभ काट लेता है। इन बातों को उन्होंने न तो रूपक और न उपमा के बतौर कहा है, सीधा लट्ठ मारा है। बाद की रचनाओं को पढ़ने से पता लगता है कि प्रेम जनमेजय के पास सशक्त उपमाओं, रूपकों तथा अतिशयोक्तियों का भंडार है, और मुझे लगा कि यह रचना प्रेम की प्रारंभिक रचनाओं में से एक है। इस रचना को संकलन में रखना था तो इसका रचनाकाल अवश्य देना चाहिए था, अन्यथा यह रचना तथा इस तरह की अन्य रचनाएं इस उत्तम संग्रह में एक दाग के समान हैं। खैर, मैं भी थोड़ी-सी अलंकारिक भाषा उपयोग कर कह सकता हूं कि यह दाग यह भी सिद्ध करता है कि यह संग्रह चंद्रमा के समान है। इसके प्रमाण मैं आगे दूंगा।

समकालीन समाज की विसंगतियों पर व्यंग्य लिखते समय व्यंग्यकार को बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है नहीं तो आपने जिस व्यक्ति पर व्यंग्य किया है वह आपके ऊपर मानहानि का मुकदमा दायर किया है। प्रेम इस विषय में बहुत सावधान हैं। उन्होंने कुछ नामों को पेटेन्ट करा लिया है जिनका उपयोग वे विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न तथा प्रतिकूल चरित्रों के लिए करते हैं यथा राधेलाल, सुरेश, बच्चू भैया आदि। और अधिकांश में तो वे नाम देते ही नहीं, 'वह' या 'मित्र' या 'पड़ोसी' कहकर काम बखूबी चला लेते हैं। और अगर नाम देते हैं तो वह भी आधा—श्री शर्मा जी, डॉ. प्रभु आदि। अनेक स्थानों पर वे पौराणिक चरित्र लेते हैं जिनमें उनका व्यंग्य अधिकांशतः पैना उतरता है। किंतु 'जाना सुदामा का कृष्ण से होली खेलने' में सुदामा का अर्थ केवल एक गरीब आदमी से है और कृष्ण का अर्थ एक सत्तावान पुरुष से, इसके अलावा सुदामा और कृष्ण में मिथक नायकों या चरित्रों के कोई भी गुण नहीं हैं, यहां तक कि जब सुदामा होली खेलने के लिए कृष्ण के पास जाते हैं और जब रक्षा सैनिक उनसे पूछते हैं कि वे कौन हैं, क्या चाहते हैं, तब सुदामा यह तक नहीं कहते कि वे अपने बालसखा से होली खेलना चाहते हैं, वरन इतना ही कहते हैं कि वे होली खेलना चाहते हैं—यह तो आज के जमाने में, जब कि फूल भेंट करने के बहाने नेता को लोग बम का गोला चढ़ा देते हैं, ठीक माना जायेगा कि कोई भी होली खेलने राजनेता के पास, बिना जाँच-पड़ताल के, जाने के लिए स्वतंत्र नहीं है। इसलिए भी यह कहानी प्रेम जनमेजय की बहुत कमजोर रही।

मेरे उपरोक्त उदाहरणों का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रेम जनमेजय ने प्रतीकों का सशक्त तथा विश्वसनीय उपयोग नहीं किया अथवा पौराणिक चरित्रों के मात्र नाम का उपयोग किया है। 'मैं नहिं माखन खायो' रचना में माखन सारे प्रकार के भ्रष्टाचार का सशक्त प्रतीक बना है। 'युधिष्ठिरी सत्य' रचना में युधिष्ठिर के 'नरो वा कुंजरो वा' कथन को आज के लोगों के दोहरे व्यवहार का स्रोत बतलाया है। युधिष्ठिरी सत्य में एक कतरा

सत्य बोलकर झूठ धड़ल्ले से बोला जा सकता है, और अपनी आत्मा पर झूठ बोझ भी नहीं बन पाता। इस तरह युधिष्ठिरी सत्य हमारे समाज में व्याप्त छल-कपट तथा आडंबर पर गहरा व्यंग्य है। किंतु मुझे लगता है कि कहीं प्रेम जनमेजय युधिष्ठिर के साथ अन्याय करते हैं। एक अद्भुत उदात्त मानवीय चरित्र की एक कमजोरी तथा एक झूठ के कारण उसके जीवन भर के सुकर्मों पर पानी फेरना अनुचित है, और व्यंग्य में इतनी शक्ति होती है, इसलिए व्यंग्यकार को सावधान रहना चाहिए। इसी रचना में वे कहीं इशारा कर देते कि मात्र उस अर्धसत्य या अर्धझूठ के कारण युधिष्ठिर को नरक जाना पड़ा था। इसी तरह एक और रचना 'यदि यदि महाभारते चुनाव भवति' में वे कहते हैं, ''युधिष्ठिर हाईकमान हैं, इसलिए उनके फैसले के विरुद्ध कुढ़ा तो जा सकता है, कुछ किया नहीं जा सकता।'' वे भूल जाते हैं कि युधिष्ठिर इतने आदरणीय थे तो मात्र इसलिए नहीं थे कि सबसे बड़े भाई थे वरन् इसलिए थे कि वे महाज्ञानी, विवेकशील और धर्माचार वाले अनोखे व्यक्ति और राजा थे आदि-आदि।

प्रेम जनमेजय की सामाजिक मूल्यों के प्रति आग्रह तथा सजगता मानव-प्रेम, मिशनरी साहस तथा निष्ठा आदि गुण उनके अपनी रचनाओं के लिए चुने गये विषयों तथा उसमें किये गये व्यंग्य प्रहारों से भी देखी जा सकती है। 'जनतंत्र कथा' में वे बतलाते हैं कि किस तरह हमारा जनतंत्र भीड़तंत्र या भेड़ियातंत्र में बदल गया है। किसी भी देशभक्त की या देशभक्ति की खिल्ली उड़ाना न केवल व्यंग्य की विशेष कुशलता की मांग करता है वरन एक अदम्य साहस की भी अपेक्षा करता हैं। उनकी एक रचना 'एक देशभक्त' इस पुस्तक की और समकालीन व्यंग्य साहित्य की एक उत्कृष्ट रचना मानी जा सकती है। एक विदेशी ने जब उनसे अर्थात् कथावाचक से कहा, ''भुखमरी अब काफी बढ़ गयी है यहां! 'मोराल' खत्म हो गया है। देशभक्ति तो लोगों ने जैसे ताक पर रख दी है। ... तुम्हारा देश है ही क्या?'' ऐसे प्रश्न पर आप उस व्यक्ति से लड़ सकते हैं या स्वीकार कर सकते हैं। तब कथावाचक कहता है, ''मैं एकदम देशप्रेमी हो गया और ऊंचे स्वर में गाने लगा, 'अरुण यह मधुमय देश हमारा ...''

'समीक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन' नाम की रचना में आज के समीक्षा जगत में व्याप्त सतहीपन तथा स्वार्थसाधन पर पहले वाक्य से अंतिम वाक्य तक व्यंजनात्मक व्यंग्य भरा पड़ा है। एक स्थान पर लिखा है, ''लगता है आजकल पुस्तकें केवल समीक्षा के लिए लिखी जाती हैं। लेखक भी समीक्षा पढ़कर ही अधिक प्रसन्न होता है। कई बार दुखद स्थिति तब आती है जब आलोचक टुच्चा, लुच्चा, बेईमान होता है। अतः समीक्षाशास्त्र में एक ऐसा गुप्त नियम है कि पुस्तक 'अपने आदमी' को ही दी जाये। समीक्षकों पर इतना आक्रामक रुख वही अख्तियार कर सकता है जो स्वयं कांच के घर में नहीं रहता और सत्य कहने-सुनने का साहस रखता है।

जब वे अधिक गहराई से चोट करना चाहते हैं तो स्वयं रचना के नायक बन जाते हैं। आज के वीडियो-प्रेम पर उनकी एक रचना है—'आह, वीडियो रोग'! रचना के शीर्षक में वी.डी. रोग की जो ध्वनि है वह व्यंग्य की मार को अवचेतन में तेज करती है, और 'आह'! विशेषण भी हमारे समाज के पतन की सीमा को दर्शाता है कि रोगी व्यक्ति उस रोग में आनंद ले रहा है। रचना की शुरुआत देखिए, "घर में घुसते ही मेरे चौदह वर्षीय बेटे ने मुझ पर बोफोर्स-प्रश्न दाग दिया, "पापा, क्या हम औरों की तुलना में बहुत गरीब हैं?" "क्यों?" मेरे स्वर में कमीशनखोरों को जानने की उत्सुकता थी। "आप देखो न, इन इनके यहां कार, इन-इनके यहां टेलिफोन, इन-इनके यहां कलर टेलिविजन है। हमारे पास ... एक छकड़ा-सा स्कूटर और रोज खराब होने वाला काला-सफेद टी.वी.।" बेटे ने मुझे हीन भावना से ग्रस्त कर दिया।" इसमें आज के माता-पिता पर भी कितना गहरा व्यंग्य है कि वे अपने बच्चों को अच्छे-बुरे में भेद नहीं समझा सकते। इसी उपभोक्तावदी संस्कृति पर एक और करारा व्यंग्य 'राधेलाल क्या करें' नाम की रचना में है। वीडियो संस्कृति को लेकर इतने सशक्त व्यंग्य मुझे अन्यत्र पढ़ने को नहीं मिले।

'सीता अपहरण केस' इस पुस्तक की तथा आज की व्यंग्य रचनाओं की एक सर्वोत्कृष्ट रचना मानी जा सकती है। आज की भ्रष्ट पुलिस का 'हृदयबेधी!' चित्रण है। पूरी रचना रोचक, विश्वसनीय तथा व्यंजनात्मक संवादों से कुशलतापूर्वक बुनी गई है। यदि पुलिस की सज्जनता का कहीं कोई मिथक (दूरदर्शन?) गढ़ा जा रहा है तब इस तथ्यपरक व्यंग्य ने उसे तोड़ा है। क्रमशः उनकी भाषा प्रखरतर तथा व्यंजनात्मक होती गई है, रचनाशीलता के नये कदम पर कदम बढ़ाती गयी है। उनकी उपमाएं बहुत ही सटीक तथा सशक्त हैं। सामान्यतया उपमेय को उपमान उजागर करता है। उपमेयोपमा में अवश्य दोनों की तुलना एक-दूसरे से की जाती है। किन्तु प्रेम जनमेजय बिना उपमेयोपमा का उपयोग किये, मात्र उपमान का चुनाव जिस ढंग से करते हैं वह उपमान तथा उपमेय को अन्योन्याश्रित बना देता है। उपमाएं ऐसे अद्भुत उपयोग से न केवल व्यंग्य को तीखा और कभी हास्यपरक बनाती हैं वरन वे स्वयं हृदय को छूने वाली हैं। 'राधेलाल क्या करें' लेख में से कुछ उदाहरण देना चाहता हूं "राधेलाल ने घर में प्रवेश किया तो उसका चेहरा सरकारी नीतियों का समर्थन पाये व्यापारी वर्ग-सा खिला हुआ था। उसने पत्नी को पुकारा, "... डार्लिंग ..."। डार्लिंग उस समय बर्तन मांज रही थी। ... राधेलाल तो कभी महंगाई भत्ते की घोषणा होने पर भी इतने प्यार से नहीं बुलाता है। पत्नी ने बर्तनों को उनके हाल पर छोड़ा और उत्सुक नायिका-सी राधेलाल के पास पहुंच गयी। "अरे वाह, आज तो बहुत सुंदर लग रही हो!" इस घोषणा से पत्नी की उत्सुकता शेयर बाजार-सी बढ़ गई। "जो राधेलाल सजी- धजी पत्नी के सौंदर्य के प्रति आधुनिक वसंत की तरह उदासीन रहता था" ... आदि।

प्रेम जनमेजय के व्यंग्य में अधिकांशतः हास्य के छींटे मिल जाते हैं जो न केवल

उनकी रचनाओं को सरस या रोचक बना देते हैं, उनके व्यंग्य की धार को तीखा भी कर देते हैं। किन्तु प्रेम ने शुद्ध हास्य की रचनाएं भी लिखी हैं—'साहित्य का शेयर बाजार : वार्षिक समीक्षा', 'बच्चू भैया', 'मैं संयोजक बन गया हूं' आदि परिष्कृत हास्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

इस तरह इस संग्रह के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम जनमेजय में उत्कृष्ट व्यंग्यकार के सभी गुण प्रभावी मात्रा में मौजूद हैं, उनकी रचनाशीलता तथा व्यंजनाशक्ति छोटी-छोटी घटनाओं को सारे देश तथा आज के समय के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करती है। यदि तुलसीदास का कलियुग वर्णन सही और शाश्वत रूप से सही है तब ये रचनाएं भी शाश्वत तथा कालजयी हो सकेंगी। प्रेम जनमेजय को मेरी बधाई तथा सफलता के लिए शुभकामनाएं। □

मेरी इक्यावन व्यंग्य रचनाएं : प्रेम जनमेजय / प्रकाशक : अभिरुचि प्रकाशन, 3/114, कर्ण गली विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-32 / मूल्य : 175.00 रुपए / प्रथम संस्करण, 1996 / पृष्ठ 216, डिमाई।

अवधारणाओं का संकट

डॉ. पद्मानन्द कश्यप

भारत के सामने आज सबसे बड़ा संकट है उसकी निजी पहचान का और चुनौती है उसके अस्तित्व को। प्रतीत होता है कि दोनों पर एक साथ प्रश्नचिन्ह लग रहे हैं। विश्वव्यापी तकनीकी क्रांति, सेवा क्रांति और संचार क्रांति ने नवविकसित एवं विकासशील देशों के समूचे जीवन की जड़ें हिला दी हैं। तकनीकी क्रांति के अंधड़ में परम्परागत मूल्य मूल से उखड़कर मुरझाते जा रहे हैं। उपभोक्तावाद की चकाचौंध में नए मूल्य, पश्चिमी जीवन पद्धति, हल्के-हल्के पैरों से प्रवेश कर पांव जमा रहे हैं। सामाजिक मर्यादाएं टूटकर बिखर रही हैं। देहवादी उपभोक्ता समाज का जन्म हुआ ही चाहता है, जिसके स्पष्ट लक्षण धूमिल होते हमारे आत्मप्रतीक हैं। हमारी संस्कृति के सभी भीतरी-बाहरी तंतु कटते जा रहे हैं। टेलीविजन सांस्कृतिक सृजन के युग-युग से स्थापित प्रतिमानों को उलट-पुलट करता जा रहा है। वह स्वयं तकनीकी क्रांति और आर्थिक खगोलीकरण की देन है और अब उस क्रांति को तेज करने का साधन बन गया है।

इस भयावह स्थिति से समाज चिंतित है। वह प्रयत्न कर रहा है इस आंधी को झेलने की क्षमता पाने की। अपनी निजी पहचान बनाए रखने की। हमारे विचारक, समाजशास्त्री, संस्कृति के अध्येता चिन्तनशील हैं, परम्परा, इतिहास और संस्कृति की नित-नई अवधारणाओं का विवेचन कर उनके कुप्रभावों से बचने का कोई मार्ग ढूंढने के लिए। संगोष्ठियां आयोजित की जा रही हैं, विचार-विनिमय हो रहा है और समाजशास्त्रीय अध्ययन और खोज पर बल दिया जा रहा है।

इस तरह के प्रयासों का एक सुफल है डॉ. पूरनचंद्र जोशी का निबंध संकलन, 'अवधारणाओं का संकट'। अग्रणी समाजशास्त्री, मार्क्सवादी विचारक, गांधी दर्शन के शोधकर्ता डॉ. जोशी ने विवेच्य पुस्तक में आधुनिकता की समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की

है और अपनी बहुआयामी दृष्टि से वर्तमान भारत को समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कोशिश की है कि अपने निरीक्षण, अनुभव, चिंतन और चिंताओं में समूचे समाज को भागीदार बनाया जाए, जिसमें वह काफी हद तक सफल रहे हैं। इस कार्य में लेखन की प्रश्नोत्तर शैली ने बड़ी सहायता की है।

डॉ. जोशी के मत में यदि 'संकट' की अवधारणा बदलते भारत को समझने की एक मूल कुंजी है, तो 'अवधारणाओं के संकट' के रूप में इस संकट की व्याख्या राजनीति, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के लिए जितनी प्रासंगिक है, उतनी ही साहित्य, कला और संस्कृति के लिए। लेखक अवधारणाओं के संकट की व्याख्या को पुरानी और नई अवधारणाओं के तीव्र से तीव्रतर होते हुए द्वंद्वों तक ही सीमित नहीं रखता। उसकी राय में संकट को सचमुच गंभीर बनाती है पश्चिम से बिना किसी नीर-क्षीर विवेक के अवधारणाओं को उधार लेने की या उनकी बिना जांच-पड़ताल के आयात करने की देश के नए बुद्धिजीवियों की प्रवृत्ति, जो उतनी ही खतरनाक है, जितनी मृतप्रायः अवधारणाओं से चिपके रहने की अंधप्रवृत्ति।

'अवधारणाओं का संकट' के मूल प्रश्न को उठाकर विद्वान लेखक ने 'सत्ता की राजनीति और संस्कृति का सूखा', 'देश पर छाये सांस्कृतिक संकट से हम कैसे उबर सकते हैं?', 'समकालीन संस्कृति और संवाद', 'संप्रेषण क्रांति का नया दौर : संभावनाएं और चुनौतियां', 'नवधनाढ्य वर्ग या नये परजीवी', 'साम्यवादी प्रयोग की विफलता का असली अर्थ क्या है?', 'आंचलिकता की परिभाषा और पत्रकार की भूमिका', 'स्थानीयता बनाम राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता', 'गांधी और नेहरू : धर्म-निरपेक्षता के दो पूरक रूप' तथा 'धार्मिकता से नहीं, धर्मांधता से लड़ो' जैसे मुद्दों का विवेचन किया है और अपनी तीव्र बौद्धिकता और विख्यात संश्लेषण-सार्मथ्य का परिचय दिया है।

डॉ. जोशी का कहना है कि 'मानसिक स्वाराज्य' के प्रति समाज की उदासीनता ही वर्तमान भारत के संकट के मूल में है। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के लिए 'मानसिक स्वाराज्य' का आदर्श उतना ही महत् प्रेरणास्रोत था, जितना 'आर्थिक और राजनीतिक स्वराज्य' का लक्ष्य। उन्हें खेद है कि 'मानसिक स्वराज्य' का लक्ष्य और कार्यक्रम आज भारत के राष्ट्रीय एजेंडे से हट गया है या हटा दिया गया है और हटा यह कहकर दिया गया कि वह एक संकीर्ण और सीमित लक्ष्य है जो आज के विज्ञान और तकनीकी द्वारा पूर्ण रूप से परिवर्तित एकल विश्व में राष्ट्रों को एक-दूसरे पर निर्भरता की वास्तविकता के प्रतिकूल है। यकायक राष्ट्रीय स्वायतत्ता का लक्ष्य एक अप्रासंगिक लक्ष्य हो गया जिसका नाम भी लेना हठधर्मिता का सूचक करार दिया जाता है। इसे महज विदेशी साजिश समझना मूर्खता होगी। इस साजिश में देश के बुद्धिजीवी वर्ग का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण हिस्सा भागीदार है, सहयोगी है।

इस निराशापूर्ण वातावरण में भी लेखक को एक सुनहरी किरण दिखाई देती है। उसका कहना है कि बदलते भारत की परिस्थिति के अनुरूप पुरानी अवधारणाओं को त्यागने

और नई अवधारणाओं की तलाश के मुद्दे को राष्ट्रीय एजेंडे पर रखने का कार्य बुद्धिजीवियों से छीनकर जनसाधारण ने अपने हाथ में ले लिया है। वे अपने आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक अधिकारों के लिए ही सचेत नहीं हैं: उनमें सांस्कृतिक असमिताओं के अधिकार की चेतना भी प्रबल होकर उभरी है।

जीवन शैली और मानव संबंधों में जितने दूरगामी, जितने सूक्ष्म, जितने गहन और व्यापक परिवर्तनों की जो संभावनाएं आज के मनुष्य को सुलभ हैं, वे शायद मानव इतिहास में पहले कभी नहीं थीं। इससे एक ऐसे सांस्कृतिक नवोदय की संभावना पैदा हो रही है, जिसकी प्रेरक शक्ति मानवता का अल्पमत ही नहीं, अधिकांश मानवता बन सकती है आवश्यकता है इसी नये सांस्कृतिक नवोदय की।

यहां आकर लेखक की दलीय विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता सामने आ जाती है और इस प्रकार के सांस्कृतिक नवोदय को आसन्न चुनौतियों का मुकाबला करने का एक उपयोगी अस्त्र मानने की अपेक्षा उसे यह आशंका ज्यादा सताती दीखती है कि कोई भी विचारधारा यदि राज्य और पुनरुत्थानवादी तत्त्वों के गठजोड़ की प्रक्रिया का मूकदर्शक बने रहने की प्रवृत्ति को संस्कृतकर्मियों में प्रबल होने देती है तो उसे इतिहास फासिज्म के एक भारतीय संस्करण को प्रोत्साहन देने का ही दोषी ठहराएगा। लेखक की मार्क्सिज्म के प्रति प्रतिबद्धता अन्यत्र भी कुछ स्थलों पर उन्हें महत् से नीचे क्षुद्र तक खींच लाती है और संचार क्रांति की विश्वव्यापी समीक्षा करते-करते वह दूरदर्शन द्वारा रामायण और महाभारत कथा प्रसारण को दकियानूसी और जड़ीभूत सामाजिक स्वरूप एवं संकीर्ण हिंदू पुनरुत्थानवादी तत्त्वों को प्रोत्साहन देना घोषित करता है। इस तरह वह एक प्रकार से नियंत्रित संचार नीति का समर्थक बनता दीख पड़ता है जिससे दूरदर्शन भारत के 'परिवर्तनशील और विविधतापूर्ण' स्वरूप को सामने लाए। वास्तविकता यह है कि जनसाधारण ने दूरदर्शन के इन प्रसारणों को, विशेषतः महाभारत कथाप्रसारण में न केवल वर्तमान समाज का प्रतिबिंब देखा, अपितु समस्याओं का देशज निदान भी देखा। उसने इन प्रसारणों से 'संकीर्ण हिंदू पुनरुत्थानवाद' की प्रेरणा नहीं ली। अपनी प्रतिबद्धता से विवश लेखक की लेखनी जहां कहीं रुकती-सी दिखाई देती है और लगता है कि वह जो कहना चाहता है, कह नहीं पाता।

व्यापक परिप्रेक्ष्य में भारत के सम्मुख खड़ा खगोलीकरण-उदारीकरण-संप्रेषण क्रांति-जनित संकट निस्संदेह गंभीर है, किंतु भारत का इतिहास साक्षी है कि उसे इन जैसे संकटों से जूझना और उन पर काबू पाना भी आता है, और उसकी यही क्षमता उसकी चिरायु की कुंजी है। और जब तक उसकी अपनी सोच कायम है, उसका भविष्य अंधकारपूर्ण नहीं हो सकता। उपभोक्तावाद के खतरे के आरंभ से ही गांधी सचेत थे। वह इस चिंतनधारा से कभी सहमत नहीं हुए कि मनुष्य एक उपभोक्ता प्रतीक है। उनकी दृष्टि में मनुष्य होने का अर्थ है उसका नैतिक और आत्मिक रूप से संपन्न होना। गांधी जी कहा करते थे कि वह

अर्थशास्त्र झूठा है जो सिर्फ कुबेर की पूजा को प्रश्रय देता हो और शक्तिशाली लोगों को दुर्बल लोगों की कीमत पर धन संचय करने में मदद करता हो।

आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व भारत एक ऐसे संकट के दौर से गुजर रहा था। जब समाज जड़ीभूत हो कर्मकांड के अंधियारे गलियारे में भटककर निष्प्राण हुआ जा रहा था। कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ के तप कहें या गहन चिंतन द्वारा प्राप्त सत्य बोध जिसने तत्कालीन संकट का निदान किया और समाज का परिष्कार कर, रुग्ण अंगों का शल्य कर एक स्वस्थ, जीवन्त, अग्रगामी जन समुदाय को खड़ा किया, जिसने कालांतर में तब के विश्व के बहुत बड़े भाग को अपने मार्ग का अनुयायी बनाया।

कुछ इस तरह का काम, मध्य युग में संतों-सूफियों ने समाज के आंतरिक विघटन को रोकने की दिशा में किया, वह भी इसी श्रृंखला की एक कड़ी थी। सामाजिक समरसता, समता, जाति-धर्मगत बंधुत्व और प्राणीमात्र की एकता का स्वर तीव्र कर इन देवपुरुषों ने एक बार पुनः देश को भीतरी कलह और द्वेष के संकट से बचाया था।

यह इसी सोच का परिणाम है कि अनेक मतों, संप्रदायों, धर्मों के बावजूद यह देश आत्मविभाजित विखंडनवाद का शिकार नहीं हुआ। जातियों के बिखराव के बीच भी सांस्कृतिक एकसूत्रता बनी रही। किंतु सामने आते खतरे और उसकी भयवहता से समय रहते आगाह हो जाना, संकट-विमोचन के लिए नितांत आवश्यक है। इस दिशा में डॉ. जोशी का 'अवधारणाओं का संकट' विशेष महत्त्व का है। उनका यह कथन अत्यन्त सारगर्भित है कि भारत के संकट की जड़ें यूरोपीय आधुनिक दर्शन से उधार लेकर यांत्रिक रूप से लागू की गई अवधारणाओं में है। यह चेतावनी कि उधार ली हुई उत्तर-आधुनिक युग की यूरोपीय या अमेरीकी नवप्रचलित अवधारणाओं से हमारी समस्याओं का समाधान असंभव है, समाज को स्वयं अपनी अवधारणाओं का सृजन करने पर बाध्य करेगा। हो सकता है कि इस दिशा में गांधी-चिंतन प्रासंगिक और बहुत बड़ा सहायक हो। उसका हल्का-सा संकेत स्वयं डॉ. जोशी ने भी किया है।

डॉ. जोशी की 'अवधारणाओं का संकट' वर्तमान काल की हिंदी भाषा में लिखी एक महत्त्वपूर्ण कृति है, जिसका अध्ययन समाजशास्त्रियों और संस्कृति-प्रेमियों के लिए ही नहीं, जनसाधारण के लिए भी निस्संदेह लाभकारी सिद्ध होगा। □

अवधारणाओं का संकट : डॉ. पूरनचंद्र जोशी / प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002; मूल्य 125.00

जीवंत गोष्ठियों का समय

लालित्य ललित

राजधानी दिल्ली के प्रगति मैदान में दस अगस्त से अठारह अगस्त तक चलने वाला दूसरा दिल्ली पुस्तक मेला पुस्तक-प्रेमियों के बीच अपनी उपस्थिति का आभास देता हुआ संपन्न हो गया। मेले में भारतीय स्वतंत्रता के पचास वर्ष पूरे होने पर लिखी अनेक पुस्तकें प्रदर्शित की गईं।

प्रथम दिल्ली पुस्तक मेला प्रायोगिक तौर पर 1995 में आयोजित किया गया था जिसमें राष्ट्रीय स्तर के प्रकाशकों के साथ विदेशी प्रकाशकों ने भी अपनी हिस्सेदारी की थी जिनमें प्रमुख थे : इंग्लैंड, अमरीका, फ्रांस, ईरान, कुवैत, बांग्ला देश इत्यादि।

इंडिया ट्रेड प्रमोशन आर्गनाइजेशन व फेडरेशन ऑफ इंडियन पब्लिशर्स (फीया) द्वारा आयोजित इस मेले में लगभग दो सौ प्रकाशकों ने हिस्सा लिया। मेले में 'भारतीय प्रकाशन के पचास वर्ष' भी आकर्षण का केंद्र रहा। मेले के दौरान पुस्तकालयों पर संवाद, कॉपीराइट और मार्केटिंग, आधुनिक हिंदी रचना कार्य इत्यादि पर महत्त्वपूर्ण गोष्ठियों का आयोजन किया गया। इस अवसर पर पंद्रह भारतीय भाषाओं के प्रकाशकों को पुरस्कृत किया गया।

दिल्ली पुस्तक मेले में जहां इस वर्ष अंग्रेजी के प्रकाशक छाये रहे, वहीं हिंदी के प्रकाशक भी अपने पेपरबैक के सस्ते संस्करणों के साथ मौजूद थे जिनमें राजकमल प्रकाशन, वाणी प्रकाशन व किताबघर प्रमुख थे। वाणी प्रकाशन ने अनगिनत पुस्तकों के पेपरबैक संस्करण इस मेले में लोकार्पित किए, वहीं केंद्रीय हिंदी-निदेशालय ने बारह सौ पृष्ठों की पुस्तक 'भारतीय साहित्य रत्नमाला' प्रदर्शित की जिसकी कीमत केवल सोलह रुपये रखी गई थी।

ओशो प्रकाशन समूह की कई शिक्षाप्रद व महत्त्वपूर्ण पुस्तकें खरीदने में लोगों ने अपनी दिलचस्पी दिखाई। मेले का सबसे बड़ा आकर्षण यह भी था कि मेला वातानुकूलित

हॉल में प्रदर्शित था व सभी गेटों से आने-जाने के लिए शटल सुविधा उपलब्ध थी।

पूरे मेले में एक अन्य आकर्षण था—तीन दशकों में खींचे गए साहित्यकारों की तसवीरें जो प्रदर्शित हुईं कैमरामैन श्री एस.के. शर्मा के सौजन्य से। इस प्रदर्शनी में सुमित्रानंदन पंत से लेकर अज्ञेय, कमलेश्वर, अमृता प्रीतम के साथ नयी पीढ़ी के महेश दर्पण का चित्र भी मौजूद था मानो चित्रों की प्रस्तुति हमें अपने अतीत से जोड़ कर यादगार क्षणों को महसूस करा रही हो।

बच्चों के खिलौने, नन्हे-मुन्ने बच्चों के गीतों के ऑडियो कैसेट भी बच्चों के आकर्षण का केंद्र रहे।

दिल्ली पुस्तक मेले के उद्घाटनकर्त्ता वाणिज्य राज्य मंत्री बी.वी. रमैया की पंक्तियां सही दिशा देती हैं—इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के व्यापक प्रचार-प्रसार के बावजूद लोगों की रुचि बनी हुई है तथा भविष्य में भी यह रुचि रहेगी। उन्होंने यह भी कहा—जहां एक ओर इलेक्ट्रॉनिक माध्यम से उत्तेजना और हिंसक प्रवृत्ति बढ़ी है वहीं दूसरी ओर पुस्तकों के अध्ययन से मानसिक तनाव से मुक्ति भी मिली है।

उपर्युक्त उद्गार एक सही दिशा में जाने के लिए पर्याप्त है।

पंद्रह अगस्त की शाम त्रिवेणी सभागार में आयोजित एक कार्यक्रम में स्वाधीनता आंदोलन के दौरान निकलने वाली पत्रिका 'हिंदू पंच' के 1930 में प्रकाशित 'बलिदान अंक' के पुनर्मुद्रण का लोकार्पण किया गया।

उल्लेखनीय है कि 'हिंदूपंच' के इस बलिदान अंक को उस समय अंग्रेजों ने जब्त कर लिया था। इसे दो खंडों में प्रकाशित किया गया था। इसमें प्राचीन भारत के शहीदों से लेकर स्वाधीनता आंदोलन के क्रांतिकारियों पर महत्त्वपूर्ण सामग्री है। कई लेख 1857 के वीरों पर हैं। पुस्तक का संपादन कमलादत्त पाण्डेय ने किया था।

मजेदार बात यह रही कि पुस्तक के अनुसंधानकर्त्ता, पुस्तक-प्रेमी खोजी श्री दिनेश शर्मा के सौजन्य से प्राप्त इस पुस्तक का पुनर्मुद्रण नेशनल बुक ट्रस्ट ने किया है। लोकार्पण के अवसर पर प्रो. नामवर सिंह, श्रीमती वीणा दास, श्री दिनेश शर्मा व ट्रस्ट के निदेशक श्री अरविंद कुमार ने अपने विचार व्यक्त किए।

अखिल भारतीय साहित्य परिषद दिल्ली इकाई द्वारा 'भारतीय चिंतनधारा और तुलसी' पर आयोजित एक विचार गोष्ठी में भारतीय ज्ञानपीठ के पूर्व निदेशक डॉ. पांडुरंग राव ने गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं पर प्रकाश डाला। गोष्ठी की अध्यक्षता मानस धर्मज्ञ डॉ. रमानाथ त्रिपाठी ने की।

ब्रिटिश उच्चायोग द्वारा आयोजित एक गोष्ठी में कार्यवाहक ब्रिटिश उच्चायुक्त श्री हिलकी सिनाट ने दो पुस्तकों 'ब्रिटेन के जातीय अल्पसंख्यक' और 'ब्रिटेन में धर्म' के हिंदी संस्करणों का विमोचन किया। इस अवसर पर सर्वश्री सुरेंद्रप्रताप सिंह, आशुतोष चुतर्वेदी,

सुधीश पचौरी सहित अन्य वक्ताओं ने भी अपने विचार रखे।

दूसरे वर्ष में प्रवेश के अवसर पर 'साहित्य अमृत' ने 'निरंकुशता और दासता के बीच साहित्य' जैसे ज्वलंत विषय पर साहित्य अकादमी सभागार में एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया। इस वैचारिक गोष्ठी की अध्यक्षता की श्री विष्णु प्रभाकर ने, विषय-प्रवर्तन किया श्री निर्मल वर्मा ने, विषय पर चर्चा में हिस्सेदारी की श्रीमती मंजुल भगत, सर्वश्री गोविंद मिश्र, अशोक वाजपेयी, कृष्णचंद्र शर्मा भिक्खु, नरेंद्र मोहन, रामेश्वर मिश्र पंकज ने। और राजधानी के दो-ढाई सौ साहित्य-संस्कृतिकर्मी श्रोताओं का आभार व्यक्त किया 'साहित्य अमृत' के प्रबंध संपादक श्री श्यामसुंदर तथा मंच संचालन किया प्रसिद्ध पत्रकार वेदप्रताप वैदिक ने।

श्री निर्मल वर्मा ने अपने मंतव्य की शुरुआत एक रूपक से की—मुझे एक अजीब-सा विचार आया, शायद इसलिए कि आजकल एक संभावना जोर-शोर से व्यक्त की जा रही है कि पृथ्वी के अलावा भी किसी और ग्रह पर जीवन है। मैं सोचता हूं किसी दिन अंतरिक्ष के किसी ग्रह का कोई प्राणी पृथ्वी पर आए और कनाट प्लेस की किताबों की किसी दुकान में किताबें उलट-पलटकर यह जानना चाहे कि यहां का लेखक लेखन के लिए क्या स्वाधीन था, क्या पराधीन था, जो भी था वह कितना किस हद तक तो उसके हाथ क्या आएगा।

निर्मल जी ने कहा, जिस समाज में जान हथेली पर रखकर कोई लिख पाए वहां लेखक की प्रशंसा तो की जा सकती है लेकिन उस समाज की नहीं। दयनीय है वह समाज जिसे शूरवीरों की जरूरत पड़ती है। लेखक का माध्यम चूंकि शब्द है, लेखक की स्वतंत्रता जहां नागरिक की हैसियत से समय-सापेक्ष रहती है, साहित्य की स्वायत्तता एक तरह से अपने रचनाकार का अतिक्रमण कर लेती है।

विषय को विस्तार देते हुए कथाकार गोविंद मिश्र ने कहा—दासता और निरंकुशता स्वतंत्र वातावरण में हमारे इर्द-गिर्द है या नहीं, यह भी देखें। एक और किस्म की दासता भी है, वह है वैचारिक दासता। साहित्य और सर्जना की दो खास चीज़ें हैं—एक तो यह मौलिक होता है और दूसरे विशिष्ट होता है। जहां पूर्वाग्रह है वहां मौलिकता कैसे होगी।

अगले वक्ता कवि अशोक वाजपेयी ने आते ही कहा—भई, मैं तो कई वर्षों तक 'पूर्वग्रह' का संपादक रहा हूं। खैर, श्री वाजपेयी ने स्पष्ट किया—वैचारिक स्वतंत्रता आजादी से बहुत पहले आ गई थी। ऐसे भी देश हैं जहां आजादी के बाद लोगों की समझ में नहीं आता कि क्या करें। जो बंधन था वह टूट गया जो प्रेरित करता था, उद्वेलित करता था। जैसे रूस में पश्चिमोन्मुखी जो स्वतंत्रता आई, पोलैंड के देशों में आई। आज वे सब दुविधा में हैं। इधर हमारे यहां प्रेमचंद, प्रसाद जो स्वतंत्रता से पहले ही स्वतंत्र हो चुके थे, दूसरी ओर देश की स्वतंत्रता के बाद हमारी बौद्धिकता का पटरा ही बैठ गया।

कथाकार कृष्णचंद्र शर्मा भिक्खु ने कहा—मैं तो चाहूंगा कि लेखक निरंकुश हो उस समस्त अतीत से, अपने पूर्वाग्रह से। ऐसी निरंकुशता स्वागत योग्य है। मैं लिखता दूसरों के बारे में हूं लेकिन मुझे हर दूसरे में स्वयं ही नजर आता है। लेखकीय ऊर्जा का प्रतिफलन आत्मविस्तार में होता है। मनुष्य की नियति है कि वह किसी न किसी बंधन से जुड़ा हुआ है और वहीं उसकी दासता है।

पत्रकार नरेंद्र मोहन ने कहा कि यदि लेखक खुद को कलुष से मुक्त कर दासता को चुनौती देते हुए निरंकुश-सा दीखता है तो वह स्वयं कालातीत है, उसकी रचना भी कालजयी है।

कथाकार मंजुल भगत और पत्रकार रामेश्वर मिश्र पंकज ने अपने वक्तव्य में सारगर्भित बातें रखीं।

विचार गोष्ठी के अध्यक्ष वरिष्ठ रचनाकार श्री विष्णु प्रभाकर ने निरंकुशता और दासता—दोनों को लेखक के लिए जरूरी बताते हुए कहा—लेखक शब्द नहीं लिखता, ऊर्जा लिखता है। शब्द तो वह उसे इसलिए देता है ताकि दूसरे तक बात को पहुंचा सके। लेखक किसी का प्रचारमंत्री नहीं होता, वह केवल अपने अंतर का प्रचारमंत्री होता है। श्री प्रभाकर ने एक और निरंकुशता पर अंगुली रखते हुए कहा—यह जो निरंकुशता है वैचारिक निरंकुशता यह साहित्यकार के लिए घातक चीज़ है। सबके अपने विचार होते हैं। युग निरंतर आगे बढ़ता है। लेखक को विचारों की अराजकता से बचना है। विचारों से नहीं बचना है। विष्णुजी ने अपने पूर्व कथन को स्पष्ट करते हुए कहा कि निरंकुशता और दासता साहित्य की बहुत बड़ी शक्ति है। वे साहित्य को चुनौती देती हैं। लेखक इन दोनों की चुनौती को स्वीकार करके विरोध में लेखनी उठाता है और फिर जो निकलता है वह शुद्ध और सच्चा साहित्य होता है।

रूसी विज्ञान तथा संस्कृति केंद्र में डॉ. नामवर सिंह ने प्रेम जनमेजय के व्यंग्य संकलन का लोकार्पण किया। इस अवसर पर संस्कृति केंद्र के उपाध्यक्ष डॉ. गुजारेव, चेलिशेव तथा आंद्रे नजारिकन के अतिरिक्त राजधानी के अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकार उपस्थित थे। डॉ. नामवर सिंह ने आरंभ में चुटकी लेते हुए कहा कि आरंभ में मैंने भी व्यंग्य लिखे हैं अतः मैं भूतपूर्व व्यंग्यकार हूं, एक भूतपूर्व व्यंग्यलेखक को एक अभूतपूर्व व्यंग्यकार की गोष्ठी में आना ही था। उन्होंने शमशेर की एक कविता की पंक्तियां गुनगुनाते हुए समकालीन परिस्थितियों में व्यंग्य की आवश्यकता पर बल दिया। डॉ. गुजारेव ने प्रसन्नता व्यक्त की कि प्रेम जनमेजय के व्यंग्य संग्रह पर सार्थक बातचीत हो रही है। केंद्र की ओर से उन्होंने शुभकामनाएं एवं बधाई दी। पुस्तक के बहाने से सर्वश्री अजित कुमार, गंगाप्रसाद विमल, रमेश उपाध्याय, शेरजंग गर्ग, भारत भारद्वाज, पवन माथुर, विश्वमोहन तिवारी ने व्यंग्य और उससे जुड़े सवालों पर सार्थक बातचीत की। कार्यक्रम की अध्यक्षता डॉ. गंगाप्रसाद विमल

ने की तथा कुशल संचालन प्रताप सहगल ने किया।

7-14 सितंबर तक अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् में 'हिंदी सप्ताह' मनाया गया। 11 सितंबर को टैगोर हॉल, आजाद भवन, नई दिल्ली में आयोजित विशेष समारोह का उद्घाटन भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की महानिदेशिका, श्रीमती मीरा शंकर ने किया तथा इसकी अध्यक्षता विदेश मंत्रालय के भूतपूर्व विशेष कार्याधिकारी (हिंदी) श्री लक्ष्मण चतुर्वेदी ने की। इसके मुख्य अतिथि हिंदी के प्रख्यात कवि श्री रमानाथ अवस्थी थे। हिंदी विद्वान श्री नारायण कुमार एवं श्री सुरेश कान्त हिंदी के महत्त्व व उपयुक्तता पर बोले। इस कार्यक्रम का संचालन परिषद् के कार्यक्रम अधिकारी (हिंदी) श्री अजय कुमार गुप्ता ने किया। तदुपरांत कवि गोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें प्रख्यात हिंदी कवि श्री बालस्वरूप राही, श्री अशोक चक्रधर, श्री लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, सुश्री पुष्पा राही, श्री शेरजंग गर्ग एवं श्री प्रेम जनमेजय ने भाग लिया। हिंदी व्यंग्यकार कवि श्री अशोक चक्रधर ने अपनी रचनाओं से श्रोताओं को मंत्रमुग्ध किया।

प्रदर्शनी

ग्रीष्मकालीन समां बेशक उत्सव की दस्तक न भी दें पर कला का जादू अपना एहसास आपकी धड़कनों तक पहुंचा ही देता है। कला का संगम मनुष्य का मन तब और खूबसूरत बना देता है जब अंगुलियां अपना करिश्मा बिखेरती हैं। जी हां, हम बात कर रहे हैं आर्ट प्लस द्वारा आयोजित सामूहिक प्रदर्शनी की। प्रतिभागी थे अनुपम सूद, अर्पणा गौड़, बुलबुल शर्मा, धीरज चौधुरी, कृष्ण आहूजा व तपन भौमिक। कल्पना अलग थी, रंग वही थे। सब के चित्रों में आकर्षण का बिंदु था जो चित्र प्रेमियों को बांधे रखने में कामयाब था।

त्रिवेणी सभागार में एक अन्य सामूहिक प्रदर्शनी में सुदीप रॉय, विजया बगाई, अनुपम सूद, आर.एन. पसरीचा सहित किशोरी बगाई ने अपने चित्र प्रदर्शित किए।

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में नीता बैनर्जी ने जल-रंगों की चित्र प्रदर्शनी आयोजित हुई।

बडेरा आर्ट गैलरी में बड़ौदा और अहमदाबाद के संयुक्त कलाकारों की प्रदर्शनी में दस कलाकारों के चित्र प्रदर्शित हुए। चित्रों को पसंद किया गया। अपने आस-पास के रंगों को सभी चित्रकारों ने विषय बनाया।

जिस तरह कलाकार वातावरण में सौंधी महक की छवि बनाए रखने में कामयाब रहते हैं, उसी तरह हू-ब-हू यथावातावरण को प्रकट करता है कैमरा। कैमरे की आंख वह देख सकती है जहां कोशिश तो की जाती है उससे अधिक देख पाने की क्षमता में कैमरा नवीन साधन है जो अपने कार्य में प्रवीण है, दक्ष है। ऐसी एक प्रदर्शनी दिल्ली की श्रीधराणी कला दीर्घा में आयोजित हुई। फोटोग्राफ़र थे राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त श्री अचल कुमार। अचल

ने फोटोग्राफ़ी अपने पिता श्री संतोष कुमार से सीखी। अचल के अनुसार फोटोग्राफी छायाकार की निजी अनुभूति है। उनके अधिकतर चित्र पशु-प्रकृति पर केंद्रित हैं।

एक अलग तरह की प्रदर्शनी का आयोजन हुआ राष्ट्रीय अभिलेखागार में। विषय था 'गणतंत्र का रूपायन'। उद्घाटन करते हुए उपराष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन ने कहा—"ऐसी प्रदर्शनी हर स्तर पर स्कूल व जनसामान्य स्तर पर प्रदर्शित हो ताकि देश की युवा पीढ़ी अपने देश की आजादी का इतिहास जान सके।" प्रदर्शनी में भारतीय संविधान दस्तावेज ब्रिटिश कैबिनेट द्वारा निर्मित कांस्टीट्यूअंट असेंबली ऑफ इंडिया, 18 मार्च 1859 को दादा भाई नौरोजी द्वारा लार्ड स्टैनले को लिखा गया पत्र, हाउस ऑफ कॉमन्स में ईस्ट-इंडिया कौंसिल बिल के द्वितीय पठन पर बहस से उद्धरण, लार्ड कर्जन का व्यंग्य समेत उस वक्त से संबंधित महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां व चित्र प्रदर्शित किए गए।

दिल्ली की दुनिया जहां एक ओर अंतहीन भागदौड़ में डूबी है, वहीं दूसरी ओर रचनात्मकता के सृजन में भी लगी है। ललित कला अकादमी द्वारा आयोजित हरीश राठी व पदमजीत कौर की चित्र प्रदर्शनी अपने तरह की एक अलग प्रदर्शनी थी। हरीश ने अपनी पेंटिंग 'फ्रॉम डार्कनेस टू लाइट' में रंगों की तीन विधाओं को बड़े विवेकपूर्ण ढंग से प्रदर्शित किया वहीं परमजीत कौर की कलाकृति में नयी सोच की झलक साफ दिख रही थी। सुश्री कौर ने अपनी कलाकृतियों में जीवन को ही प्रमुख माध्यम बनाया। उन्होंने अपनी कलाकृतियों को डेजायर, साइलेंस, होप, मिरेज में बांटा। वहीं 'इच्छा' में महिला-पुरुष के एकांत के क्षणों को एक कॉस्मिक वातावरण में बखूबी दर्शाया है। सुश्री कौर ने कहा—मैं अपनी कला को व्यावसायिक रूप नहीं देना चाहती।

एक अन्य कलाकार की भी एकल प्रदर्शनी ललित कला अकादमी की दीर्घा में प्रदर्शित हुई। कलाकार थी दिल्ली विश्वविद्यालय से बी.ए. ऑनर्स कर चुकी ईशिता। ईशिता के चित्रों में चटख रंग भी हैं, कुछ सादे रंगों का भी सहारा उसने लिया है। प्रदर्शनी में सम्बुल्स, होलीडे, आकाशगंगा, लवफ्लेम आदि शीर्षक से चित्र प्रदर्शित थे। प्रदर्शित चित्रों को आगुंतकों ने काफी पसंद किया। जहां हमने अब तक बात की वहां ब्रुश थे, कैनवास था, कैमरा था और प्रकृति का वातावरण। अब ले चलते हैं एक अलग जगह पर। सोच वही। जी हां, बात हो रही है बरेली-निवासी युवा चितेरी वंदना देवेंद्र की जिसने कंप्यूटर के माध्यम से चित्रों की पूरी श्रृंखला तैयार की है। वंदना के चित्रों में वही संवेदनशीलता वही रचनात्मकता है जो हाथ के बनाए चित्रों में होती है।

चित्रकार अगर साथ में कविता का मन भी रखता हो तो निःसंदेह पथ रचनात्मक के साथ सृजनात्मक भी हो जाएगा। वंदना के चित्रों में उदग्रता, क्षैतिज और गंभीरता—तीनों के दर्शन होते हैं।

कंप्यूटर पेंटिंग हमें आश्वस्त करती हैं और आगाह भी कि कला में अब विज्ञान के

युग का आरंभ हो गया है।

आईफैक्स कला दीर्घा में युवा चित्रकार श्री भास्कर नायर की चित्र प्रदर्शनी आयोजित हुई। पाल गागीन व गुस्ताव क्लिक्ट से प्रेरित श्री नायर की रचनात्मकता मौजूदा कलाकारों से भिन्न है। शायद यही वजह है कि हमेशा वे अछूते विषयों को तलाशते हैं।

इसी तरह एक अन्य प्रदर्शनी एल.टी.जी. कला-दीर्घा में आयोजित हुई। संजीव साहा व अरुणा नर्लीकर के चित्र सामयिक विषयों पर केंद्रित थे।

चाहे बरसात हो, उमस हो या हो गरमी का आलम; सब काम होना है चाहे वह रचनात्मक हो, आधिकारिक हो या हो सृजनात्मक।

नृत्य/संगीत

जुलाई माह की शुरुआत इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित ओडीसी नृत्यांगना दीपशिखा दत्ता से होती है। गुरु हरे कृष्णा बिहारी से प्रशिक्षित नृत्यांगना सुश्री दीपशिखा ने नयनाभिराम प्रस्तुति की।

त्रिवेणी सभागार में एक अन्य नृत्य प्रस्तुति दी जय रामा राव से प्रशिक्षित कलाकारों ने जिनमें प्रमुख थी अरुणिमा नीरज कुमार।

ओडिसी की एक बेहतरीन प्रस्तुति दी किरण सहगल ने। कार्यक्रम था कमानी सभागार में। देखने वालों की तालियां बज रही थीं कि तेज सुनने वालों की अपेक्षा शास्त्रीय संगीत का भी माहौल देखते ही बनता था।

थोड़ा पीछे जाएं तो पता चलता है 'ओडिसी' नृत्य भी नाट्यशास्त्र पर आधारित है और उड़ीसा में नृत्य के अस्तित्व का पहला प्रमाण ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में मिलता है।

स्वतंत्रता दिवस के शुभ अवसर पर 'गीत से नृत्य तक' कार्यक्रम का रंगारंग आयोजन कमानी सभागार में किया गया। चित्रलेखा संस्था द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम का उद्घाटन 'राष्ट्रीय सहारा' के संयुक्त संपादक श्री राजीव सक्सेना ने किया।

कार्यक्रम की शुरुआत सुगम व शास्त्रीय संगीत गायक हरिमोहन झा के भजन से हुई। पर जब प्रसिद्ध लोकगीत गायिका श्रीमती विजय भारती ने भोजपुरी, मिथिला और अंगिधा बोली में गीत गाए तो श्रोता झूम उठे।

इसके बाद नृत्यजगत में अभूतपूर्व 101 घंटे तक लगातार नृत्य का विश्व कीर्तिमान स्थापित करने वाली कनुप्रिया मंजरी ने अपना बैले प्रस्तुत किया।

बरसात की बात चली हो, नृत्य-संगीत की शाम हो और शाम में बात हो 'बरसन लागी बदरिया' तो बाहर-भीतर होने लगी बरसात। संगीत-प्रेमी इस कदर भीगे कि शाम झूम उठी।

नई दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में आयोजित 'बरसन लागी बदरिया' की यह प्रस्तुति गुलवाड़ी परिवार, इलाहाबाद की प्रस्तुति थी। एक अन्य प्रस्तुति थी पंडित धन्नूलाल मिश्र की गायकी में पूरब रंग। उनकी आवाज स्वर्गीय उस्ताद अब्दुल करीम खां जैसी नोकदार आवाज है कि वह शाम दोनों ओर से मुकाबले की शाम हो गई थी।

बनारसी और मिर्जापुरी कजरियों से भी उन्होंने श्रोताओं को आनंदित किया। तबले पर साथ दिया विश्वनाथ मिश्र ने और हारमोनियम पर संगत की महमूद धौलपुरी ने।

तीन दिवसीय समारोह का आयोजन साहित्य कला परिषद ने अपने वार्षिक समारोह 'सोपान' के तहत किया था। पहले दिन पियाली डे और चारुदत्ता ने ओडिसी नृत्य और जी. अनुराधा ने भरतनाट्यम की नृत्य प्रस्तुति दी। दूसरे दिन ओ.एस. सुधा एवं वी मुंत्थुकुमार ने कर्नाटक गायन और मीनू दक्षिणामूर्ति ने भरतनाट्यम की प्रस्तुति दी।

तीसरी शाम अनन्य कुमार और सुश्री अदिति दास ने हिन्दुस्तानी गायन की प्रस्तुतियां दीं। सचमुच यह समारोह अपने आप में एक अनूठा सम्मिलित समारोह रहा।

एक अन्य शाम उत्तर-मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र और भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् द्वारा आयोजित उत्तर-दक्षिण संगीत संगम नामक एक कार्यक्रम आजाद भवन में संपन्न हुआ। युगलबंदियों के इस कार्यक्रम में उत्तर और दक्षिण भारतीय कलाकारों ने सांगीतिक दूरी खत्म करने और एकरूपता प्रदर्शित करने का यथासंभव प्रयास किया।

देखा जाय तो संगीत की 'हिंदुस्तान' और कर्नाटक शैलियों को एक साथ मंच पर सुनना प्रायः दिलचस्प होता है।

असल में, दोनों शैलियों का विकास अलग माहौल में हुआ है। कर्नाटक संगीत पर दक्षिण और हिंदुस्तानी संगीत पर उत्तर भारतीय लोक-परंपराओं का भी काफी असर है। कर्नाटक संगीत के स्वर-स्वभाव में चंचलता है तो हिंदुस्तानी संगीत में स्थिरता और गहराई साफ दिखती है।

रंगमच

हालांकि जब मौसम में गरमी का माहौल छा जाए तो आस-पास की सांस्कृतिक गतिविधियों की हलचल प्रायः कम हो जाती है। यही कारण रहा दिल्ली के रंगमंच का। मंचित नाटक बेशक कम हुए पर हुए जरूर।

राजधानी स्थित श्रीराम सेंटर में 'मगर फिर भी' मूल हिंदी नाटक मंचित किया गया। यह नाटक एड्स के रोगी के साथ ही समस्या के समाधान पर केंद्रित था। नाटक को काफी पसंद किया गया। लगभग पूरा महीना हल्की-फुल्की गतिविधियों में डूबा रहा। कुछ नाटक मिश्रित कार्यशालाएं हुईं, कुछ परिचर्चाएं।

अगस्त की शुरुआत हुई.। कमानी सभागार में जहां आयोजित एक शाम मार्डन स्कूल के पुराने विद्यार्थियों ने एक नाटक मंचित किया 'दरवाजा खोल दो'। आखिर गरमी के बाद बारिश का मौसल आया। नाटकों ने चुप्पी तोड़ी और राजधानी स्थित रंगमंच की गतिविधियां कुछ तेज दिखाई दीं।

इंडिया गेट स्थित इंदिरा गांधी राष्ट्रीय केंद्र में रुचिका थियेटर ग्रुप की ओर से 'अपराजिता' की एक प्रस्तुति मंचित की गई।

इसी तरह श्रीराम सेंटर में एक अन्य नाटक मंचित हुआ 'कोर्ट मार्शल'। इसे लिखा था प्रख्यात लेखक स्वेदश दीपक ने। मंचीय निर्देशन किया अरविंद गोड़ ने। नाटक पसंद किया गया।

'हरा समंदर' नाटक की मंचीय प्रस्तुति भी थी श्री राम सेंटर के प्रेक्षागृह में।

रशियन कल्चरल सेंटर में भी एक मंचीय प्रस्तुति रही। इसे चेखव ड्रामा स्टूडियो ने प्रस्तुत किया एन.बी. जोगल के नाटक 'रिवाईजर' को।

इन दिनों प्रमुख रूप से जो सक्रिय नाट्य संस्थाएं हैं वे इस प्रकार हैं—'प्रयोग (एम.के. रैना), 'स्टूडिय-1' (अमाल अल्लाना), 'अग्रदूत' (स्व. दीनानाथ), 'रुचिका' (फैजल- अल्काजी एवं अरुण कुकरेजा), 'नॉन ग्रुप' (रवि वासवानी एवं रमेश मनचन्दा), 'संभव' (देवेंद्र राज अंकुर), 'साक्षी' (कृष्णकांत), 'एक्ट वन' (एन. के. शर्मा), 'अस्मिता' (अरविंद गौड़) इत्यादि।

यह कहने में अतिश्योक्ति नहीं होगी कि भारतीय रंगमंच का भविष्य उज्ज्वल है। ऋतुएं बदलती रहती हैं पर कार्यवाही हमेशा जारी रहती है।

पुरस्कृत

कन्नड़ फिल्मों के सुप्रसिद्ध अभिनेता राजकुमार को भारतीय सिनेमा के विकास में उल्लेखनीय योगदान के लिए वर्ष 1995 के 'दादा साहब फाल्के पुरस्कार' से राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने सम्मानित किया। इस पुरस्कार में उन्हें प्रशस्ति-पत्र व एक लाख रुपये की राशि भी दी गई। श्री राजकुमार का जन्म 1929 में कर्नाटक के गुंटूर में हुआ। करीब पैंतीस वर्ष का अपना योगदान उन्होंने फिल्म उद्योग को दिया। बतौर अभिनय उन्होंने गायकी में भी अपनी पहचान बनाई।

दादा साहब फाल्के पुरस्कृत अन्य महत्त्वपूर्ण जन इस प्रकार हैं : पृथ्वीराज कपूर, धीरेन गांगुली, सोहराब मोदी, नौशाद अली, दुर्गा खोटे, सत्यजित राय, व्ही शांताराम, बी. नागारेड्डी, राज कपूर, लता मंगेशकर, भूपेन हजारिका सहित मजरुह सुल्तानपुरी।

इण्डो नार्विजन इन्फारमेशन एण्ड कल्चरल फोरम नार्वे, फीगो एवं आ. उ. एफ. के संयुक्त कार्यक्रम में भारत-नार्वे मैत्री संबंध को बढ़ाने के लिए डॉ. श्यामसिंह शशि को

सम्मानित किया।

राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने एक कार्यक्रम में संस्कृत, अरबी और फारसी के 21 विद्वानों को राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया। इनमें छह विद्वान उत्तर प्रदेश और दो विद्वान बिहार से हैं। मध्य प्रदेश, पंजाब और दिल्ली के भी एक-एक विद्वान को यह सम्मान प्राप्त हुआ है। ये पुरस्कार 1995 के लिए दिए गए हैं।

बिहार सरकार ने स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर प्रेमचंद द्वारा स्थापित पत्रिका 'हंस' के संपादक-संचालक श्री राजेंद्र यादव को आचार्य शिवपूजन सहाय स्मृति पुरस्कार से सम्मानित किया। इनके अलावा अन्य बाईस रचनाकार भी पुरस्कृत किए गए। श्री राजेंद्र यादव को सम्मान के तहत एक लाख रुपये की राशि, प्रशस्ति-पत्र व अंगवस्त्र भेंट किया गया।

प्रतिष्ठित कवि श्री केदारनाथ सिंह को इस वर्ष दयावती मोदी कविशेखर सम्मान के लिए चुना गया है। श्री केदारनाथ सिंह को सम्मान राशि के तहत दो लाख इक्यावन हजार रुपये प्रशस्ति-पत्र के साथ नवंबर माह में भेंट किये गये।

तिब्बती उच्चविद्या संस्थान ने अपने पंचम दीक्षांत समारोह में महामहिम राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा को एक कार्यक्रम में वाचस्पति की मानद-उपाधि से विभूषित किया।

इस वर्ष 1996 का भारतभूषण अग्रवाल स्मृति पुरस्कार कवयित्री सुश्री अनामिका को 'अनुवाद' शीर्षक से कविता के लिए दिया जाएगा।

एक कार्यक्रम में दिल्ली के मुख्यमंत्री ने 'तुलसी सम्मान' से मानस-मर्मज्ञ पं. रामकिंकर सहित पत्रकार आलोक मेहता व 'कल्याण' के संपादक श्री राधेश्याम खेमका को सम्मानित किया।

उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा संचालित इस वर्ष का सर्वोच्च 'भारत भारती' पुरस्कार वयोवृद्ध साहित्यकार प्रो. विजयेंद्र स्नातक को दिया गया। प्रो. स्नातक को प्रशस्ति-पत्र के साथ ढाई लाख रुपये की राशि भी पुरस्कारस्वरूप दी गई है।

प्रो. स्नातक को कुछ दिन पहले हिंदी अकादमी ने शलाका पुरस्कार से भी सम्मानित किया था।

वर्ष 1996 का 'गोकुलचंद्र पुरस्कार' हिंदी के वरिष्ठ आलोचक एवं साहित्यकार डॉ. रामविलास शर्मा को दिया जाएगा। आचार्य रामचंद्र शुक्ल साहित्य शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा प्रदत्त यह पुरस्कार सितंबर माह को उनके दिल्ली स्थित निवास विकासपुरी में दिया जाएगा। पुरस्कारस्वरूप डॉ. शर्मा को मानपत्र, प्रतीकचिह्न एवं ग्यारह हजार रुपये की राशि भेंट की जाएगी।

यह पुरस्कार आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कनिष्ठ पुत्र गोकुलचंद्र शुक्ल की स्मृति में संस्थान ने पिछले वर्ष आरंभ किया है।

चर्चित व्यंग्यकार ज्ञान चतुर्वेदी को चकल्लस पुरस्कार, पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी पुरस्कार तथा उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के पुरस्कार से सम्मानित किया गया। □

हिंदी : भारत और मॉरिशस के संबंधों की प्रतीक

अजय कुमार गुप्ता

पिछले दिनों भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के निमंत्रण पर मॉरिशस के राष्ट्रकवि श्री ब्रजेन्द्र भगत 'मधुकर' भारत पधारे। श्री भगत के सम्मान में दिल्ली सहित भारत के अनेक शहरों में स्वागत समारोह एवं साहित्यिक गोष्ठियां आयोजित की गईं। दिल्ली में साहित्य अकादमी, प्रवासी भारतीय समाज तथा हिंदी अकादमी की ओर से उनका सम्मान किया गया। इस समारोह में साहित्य अकादमी के सचिव श्री के. सच्चिदानन्द, डॉ. नामवर सिंह, प्रो. केदारनाथ सिंह, श्रीमती शीला गुजराल, श्रीमती काननबाला सिंह आदि हिंदी लेखकों एवं पत्रकारों ने भाग लिया। उनके सम्मान में आयोजित हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी की ओर से आयोजित स्वागत समारोह में मॉरिशस के राष्ट्रकवि डॉ. ब्रजेन्द्र भगत 'मधुकर' ने कहा कि हिंदी हमारी भूख और प्यास है। उन्होंने कहा कि मॉरिशस और भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक संबंध अटूट हैं। उन्होंने अपनी कई कविताएं सुनाईं। कविता में आत्मपरिचय देते हुए उन्होंने कहा, ''गरम कलम से आग उगलता, नरम कलम से शीतल पानी।'' डॉ. मधुकर ने कहा कि भारत में हिमालय के समान बहुत-सी चीज़ें ऊंची और गंगा के समान पवित्र हैं। लेकिन इस समय उस पर धूल पड़ गई है। महानता को धवल बनाना ही हम लोगों का कर्तव्य होना चाहिए।

समारोह की अध्यक्षता प्रतिष्ठित साहित्यकार डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने की। उन्होंने कहा कि लोग हिंदी को भूलने लगे हैं। हिंदी ने भारत और मॉरिशस को आजादी दिलाई और आज हम हिंदी को भूलकर जैसे अंग्रेजी की ओर झुक रहे हैं।

कथाकार डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने कहा कि भारतीय संस्कृति दूर के देशों में गई थी

और आज भी वे लोग भारतीय भाषा और संस्कृति से जुड़े हुए हैं। डॉ. त्रिभुवन सिंह ने डॉ. मधुकर का स्वागत करते हुए कहा कि मॉरिशस में तुलसी का अपूर्व सम्मान है। हम विदेशी बाजार के कारण आत्महीनता से ग्रस्त हो गए हैं। अंग्रेजी का वर्चस्व हो गया है। मधुकर जैसे मॉरिशस के राष्ट्रकवि को दुख है कि हम अपनी संस्कृति की भाषा से दूर हो गए हैं।

हिंदी प्रचारक संस्थान के अध्यक्ष कृष्णचंद्र बेरी ने मधुकर जी का सम्मान करते हुए कहा कि आप ऐसे कवि हैं जिससे हिंदी लोकप्रिय हुई है। आप जैसे कवियों के कवि सम्मेलनों से हिंदी का विकास हुआ है। इस देश की स्वतंत्रता की लड़ाई में जिस प्रकार हिंदी, हिंदी के साहित्यकारों और पत्रकारों का योगदान रहा है उसी तरह मॉरिशस से इस राष्ट्रकवि का वहां अवदान रहा है। आपका काशी में स्वागत भारत और मॉरिशस की मैत्री का प्रतीक है। हम अपनी सांस्कृतिक परंपरा और साहित्यिक गरिमा के साथ आपका स्वागत करते हैं। गीतकार श्रीकृष्ण तिवारी ने 'मुझको तो जीवन भर चंदन ही रहना है' गीत सुनाकर कविता की रचनाधर्मिता को प्रकट करते हुए साहित्यकारों की ओर से मधुकर जी का स्वागत किया।

इस अवसर पर डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय ने अभिनंदन पत्र का वाचन किया जिसे पं. विद्यानिवास मिश्र ने काशी के साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों की ओर से उन्हें प्रदान किया। डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने अंगवस्त्रम समर्पित किया। श्री विजयप्रकाश बेरी ने धन्यवाद प्रकट करते हुए कहा कि मॉरिशस में भारत के प्रति गहरा प्रेम है। वहां के लोग भारतीय संस्कारों में ही रचे-बसे हुए हैं। उन्होंने इस बात की आवश्यकता पर जोर दिया कि संपूर्ण विश्व के हिंदी लेखन से जुड़े प्रवासी भारतीय तथा विदेशी साहित्यकारों के संक्षिप्त जीवन परिचय के साथ उनके संपर्क सूत्र का उल्लेख करते हुए एक निदेशिका का प्रकाशन भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् (विदेश मंत्रालय-भारत सरकार) को अविलम्ब करना चाहिए जिससे कि पूरे विश्व में फैले हिंदी-सेवी आपस में एक-दूसरे के साथ वैचारिक संपर्क बनाए रख सकें।

प्रो. डॉ. कामेश्वर उपाध्याय, ज्योतिष विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय द्वारा मंगलाचरण, श्रीमती पूनम बेरी द्वारा अतिथि का परिचय एवं संस्थान की ओर से विवेक बेरी द्वारा श्री मधुकर एवं भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के हिंदी अधिकारी श्री अजयकुमार गुप्ता को पुस्तकें अर्पित की गईं। स्वागत समारोह का संचालन प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने किया।

समारोह में सर्वश्री न्यायमूर्ति गणेशदत्त दूबे, रत्नशंकर प्रसाद, मनु शर्मा, डॉ. वासुदेव सिंह, डॉ. युगेश्वर, डॉ.लक्ष्मीनारायण तिवारी, डॉ. गिरिन्द्रनाथ शर्मा, डॉ. बद्रीनाथ कपूर, डॉ. कमल गुप्त, डॉ. बलदेव राज गुप्त, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, चकाचक बनारसी, धर्मशील चतुर्वेदी, ड़ॉ. गिरिशचंद्र चौधरी, शशिधर इस्सर, डॉ. निर्मला अधिकारी, सोहनलाल मेहरोत्रा, वेदप्रकाश नौटियाल, सांड़ बनारसी, डॉ. सावित्री गौड़, श्रीमती नीलम राकेश, मुकुंदलाल टंडन,

अश्विनीकुमार रस्तोगी, दीनानाथ मेहरोत्रा, त्रिशूल काशिकेय, विजयपाल सिंह, घनश्याम गुप्त आदि साहित्यकार कवि, पत्रकार तथा नगर की विभिन्न साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक संस्थाओं की ओर से मॉरिशस के राष्ट्रकवि का स्वागत किया गया। प्रशासन की ओर से श्री राकेश चन्द्रा, अपर जिला अधिकारी द्वारा माल्यार्पण और प्रतीक चिह्न द्वारा उन्हें सम्मानित किया गया।

वाराणसी के पश्चात श्री मधुकर का बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से सम्मान किया गया। उस समारोह में भागलपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति सहित श्री रिपुदमन सिंह एडवोकेट सहित अनेक हिंदी सेवियों ने उनके सम्मान में अपने-अपने व्याख्यान दिए तथा भारत और मॉरिशस के संबंधों को और मजबूत बनाने के लिए प्रयास करने के लिए कहा। इस समारोह में लगभग 20 कवियों ने अपना कविता-पाठ किया और श्री मधुकर ने अपनी कविता 'भीष्म प्रतिज्ञा है यह मेरी' सुनाकर दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की महानिदेशिका, श्रीमती मीरा शंकर ने अतिथि के सम्मान में मिलन गोष्ठी का आयोजन किया जिसमें केदारनाथ सिंह, पद्मा सचदेव, के. सच्चिदानन्द, प्रेम जनमेजय, गंगाप्रसाद विमल, कन्हैयालाल नन्दन आदि राजधानी के अनेक विशिष्ट साहित्यकार उपस्थित थे। इस अवसर पर ब्रजेन्द्र भगत 'मधुकर' तथा पद्मा सचदेव ने अपनी कविताओं से वातावरण को रसमय बना दिया। □

संपर्क सूत्र

इंद्रकुमार गुजराल
विदेश मंत्री, विदेश मंत्रालय, भारत सरकार

पंकज चतुर्वेदी
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016

इंद्रनाथ चौधुरी
183, टैगोर पार्क, दिल्ली-110009

चित्रा मुद्‌गल
बी-105, वर्धमान अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज़-I (विस्तार), दिल्ली-110091

पम्मन
द्वारा 190, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया कॉलोनी, गांधीनगर, हैदराबाद-500080

डॉ. एन.पी. कुट्टन पिल्लै
190, स्टेट बैंक ऑफ इंडिया कॉलोनी, गांधीनगर, हैदराबाद-500080

डॉ. वर्षा दास
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016

रंजन कुमार सिंह
C-II/29 बापा नगर, नयी दिल्ली-110003

डॉ. गुरचरण सिंह
6/15, अशोक नगर, नयी दिल्ली-110018

कैथरीन क्लिमेंट
57 रुई डू चर्ची—मिडी, 75006, पेरिस-45444009

जगदीश चतुर्वेदी
सी-2/32ए लारेंस रोड, नयी दिल्ली-110035

देवी राय
LIG 8/9, द्वितीय मंजिल फेज-II, गोल्फ ग्रीन कॉम्पलेक्स, कलकत्ता-700045

शंकर झा
563 सी रवींद्र स्वामी, कलकत्ता-700003

अवध नारायण मुद्गल
बी-105, वर्धमान अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-I विस्तार, दिल्ली-110091

नरेंद्र जैन
132, श्री कृष्ण नगर, विदिशा, (मध्य प्रदेश)

बालकृष्ण संन्यासी
बायोटेक्नोलॉजी विभाग, ब्लाक-2, सी.जी.ओ. काम्पलेक्स, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110003

कुबेर दत्त
159, आकाश दर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-I दिल्ली-110092

विनय विश्वास
हिंदी विभाग, कॉलेज ऑफ वोकेशनल स्टडीज़, शेख सराय-II नयी दिल्ली-110017

जसबीर त्यागी
WZ-12 ए, गांव बुढेला, विकास पुरी, नयी दिल्ली-110018

सुदर्शन पंडित
रीडर पैराडाइज, मॉडल डाउन मार्केट, जालंधर शहर, जालंधर

रमेश ऋषिकल्प
521, पॉकेट-2, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-110063

ज्ञान चतुर्वेदी
ए-40, अल्कापुरी, भोपाल-462024

अजित कुमार
166, वैशाली, पीतंम पुरा, दिल्ली-110034

डॉ. दिनेश अग्रवाल
8, कॉलेज फ्लैट्स, प्रद्युमन नगर, सहारनपुर-247001 (उत्तर प्रदेश)

सुधीश पचौरी

17-B-1, हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स, मयूर विहार-I दिल्ली-110091

देवशंकर नवीन

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016

प्रकाश मनु

545, सैक्टर-29, फरीदाबाद (हरियाणा)

विश्वमोहन तिवारी

ई-143, सैक्टर 21, नोएडा-201301

डॉ. पद्मानन्द कश्यप

34, मैत्री अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-110063

लालित्य ललित

बी-3/43, शकुंतला भवन, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली-110063

अजय कुमार गुप्ता

77 ए, राधेश्याम पार्क, परवाना रोड, दिल्ली-110051

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक	मूल्य (रु.)
इंडियाज मौलाना : अबुल कलाम आजाद (भाग-1) अंग्रेजी (ट्रिब्यूट एण्ड अप्रैजल्स)	*सैयदा सैयदैन हमीद*	300/-
इंडियाज मौलाना : अबुल कलाम आजाद (भाग-2) अंग्रेजी (चुनिन्दा भाषण व लेख)	*सैयदा सैयदैन हमीद*	300/-
इमाम-उल-हिंद (भाग-3) हिंदी (भाषण व लेख, भाग-3 का देवनागरी संस्करण)	*सैयदा सैयदैन हमीद* *प्रो. मुजीब रिजवी*	300/-
इमाम-उल-हिंद (भाग-4) उर्दू (भाषण व लेख भाग-2 का उर्दू संस्करण)	*सैयदा सैयदैन हमीद* *डॉ. (श्रीमती) सुधा मेंहदी*	300/-
साइंस, सोशियलिज्म एण्ड ह्यूनिज्म	*अरुणा आसफ अली*	35/-
इंडियन पोइट्री टुडे (भाग-3, पुनर्मुद्रण)	*केशव मलिक*	60/-
पोइट्री फेस्टिवल इंडिया	*श्रीकांत वर्मा*	80/-
इंडिया एण्ड वर्ल्ड लिटरेचर	अभय मौर्यारु	225/-
कंटम्परेरी रिलिवेन्स ऑफ सूफिज़्म	*एस.एस. हमीद*	600/-
द डिवाइन पिकॉक	*के. सच्चिदानन्द मूर्ति*	250/-
हैंडिक्राफ्ट्स ऑफ इंडिया (पुनर्मुद्रण)	*कमलादेवी चट्टोपाध्याय*	1000/-
इंडियन म्यूजिक	*बी.सी. देवा*	200/-
माइटियर देन मैचट	*हरीश नारंग*	350/-
महात्मा गांधी : 125 वर्ष	*बी. आर. नंदा*	600/-
नामीबिया-इंडिया-फाइव डिकेड्स ऑफ सोलिडैरिटी	*टी.जी. रामामूर्ति*	500/-

पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक	मूल्य (रु.)
ली महात्मा गांधी : एनीस (फ्रेंच)	*शांता रामाकृष्णा एवं अमित दासगुप्ता*	800/-
ग्लिम्सेज ऑफ संस्कृत लिटरेचर	*ए.एन.डी. हक्सर*	400/-
सत्य की खोज	*डॉ. आदोलेन स्मेकल*	600/-
द पैरेलियल ट्री	*के. सच्चिदानन्द मूर्ति*	700/-
डायरेक्ट्री ऑफ कल्चरल ऑर्गनाजेशन	*के.सी. दत्त*	1250/-
मुलाक़ात	*वात्सलाव हावेल*	100/-
ए कैटेलॉग ऑफ अरेबिक बुक्स इन आज़ाद कलेक्शन (भाग-I)	*जे.ए. वाजिद एवं एस. मासीहुल हसन*	1050/-
ए कैटेलॉग ऑफ परशियन बुक्स इन आज़ाद कलेक्शन (भाग-II)	*जे.ए. वाजिद एवं एस. मासीहुल हसन*	595/-
ए कैटेलॉग ऑफ उर्दू बुक्स इन आज़ाद कलेक्शन (भाग-III)	*जे.ए. वाजिद एवं एस. मासीहुल हसन*	1020/-

उपरोक्त अंशदान दरें **भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली** के नाम पर बैंक ड्राफ्ट/मनीऑर्डर के द्वारा अग्रिम रूप में देय हैं।

पुस्तकालयों/संस्थाओं को रियायत 10%
ट्रेड रियायत 25%